

महर्षि दयानन्द सरस्वती की  
उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा  
का मुखपत्र



विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,  
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।  
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,  
धन्या नरा विहितकर्म परोपकाराः॥

वर्ष : ६२ अंक : १७

दयानन्दाब्दः १९६

विक्रम संवत्: भाद्रपद शुक्ल २०७७

कलि संवत्: ५१२१

सृष्टि संवत्: १,९६,०८,५३,१२१

सम्पादक

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

प्रकाशक- परोपकारिणी सभा,

केसरगंज, अजमेर- ३०५००१

दूरभाष: ०१४५-२४६०१६४

मुद्रक-मन्त्री, परोपकारिणी सभा

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

दूरभाष : ०१४५-२४६०८३१

परोपकारी का शुल्क

भारत में

एक वर्ष-३०० रु.

पाँच वर्ष-१२०० रु.

आजीवन ( १५ वर्ष ) -३००० रु.

एक प्रति - १५/- रु.

विदेश में

वार्षिक-५० यू.के. पाउण्ड/८० यू.एस.डॉलर

द्विवार्षिक-९५ पाउण्ड/१५२ डॉलर

त्रिवार्षिक-१४० पाउण्ड/२२५ डॉलर

आजीवन (१५वर्ष)-५००पा./८०० डॉ.

एक प्रति - ३ पाउण्ड

एक प्रति - ४ डॉलर

वैदिक पुस्तकालय : ०१४५-२४६०१२०

ऋषि उद्यान : ०१४५-२६२१२७०

RNI. No. ३९५९ / ५९

i j k dkj h

सितम्बर प्रथम २०२०

अनुक्रम

०१. क्या कालान्तर में आर्यसमाज...	सम्पादकीय	०४
०२. मृत्यु सूक्त-५५	डॉ. धर्मवीर	०७
०३. कुछ तड़प-कुछ झड़प	प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	१०
०४. शांकर-मत समीक्षा	श्री उदयवीर शास्त्री	१४
०५. जीवित माता-पिता ही सच्चे पितर हैं	जगदेव विद्यालङ्कार	२६
०६. सनातनियों के उत्तरित प्रश्नों...	डॉ. रामप्रकाश वर्णी	२७
०७. वैदिक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित नया साहित्य		२९
०८. संस्था की ओर से...		३१
०९. 'सत्यार्थ प्रकाश' एवं 'महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र'		३४

www.paropkarinisabha.com

email : psabha@gmail.com

उपनिषद्, दर्शन, प्रवचन आदि सुनने हेतु बटन दबाएँ  
www.paropkarinisabha.com→gallery→videos

'परोपकारी' पत्रिका में प्रकाशित सभी आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के निजी हैं। इन्हें सम्पादकीय नीति नहीं समझा जाये।  
किसी भी विवाद की परिस्थिति में न्यायक्षेत्र अजमेर ही होगा।

## क्या कालान्तर में आर्यसमाज हिन्दुत्व में समाहित हो जायेगा?

### एक आत्मचिन्तन

इस कथन में कोई सन्देह नहीं है कि श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों के सत्यस्वरूप का अन्तर्मन से पूजक अर्थात् हृदय से सर्वोच्च सम्मानकर्ता और अनुयायी विश्व में कोई समाज है, तो वह आर्यसमाज है। आर्यसमाज महापुरुषों के चित्र का नहीं, चरित्र का पूजक है। वह राम को वैदिक संस्कृति का आधारस्तम्भ और आदर्श रामराज्य का प्रवर्तक मर्यादा पुरुषोत्तम सम्राट् मानता है। वह इतिहास-विरुद्ध, असम्भव, अन्धविश्वास-आधारित, कल्पित और अतार्किक पौराणिक स्वरूप को मान्य नहीं करता।

यह चर्चा इस कारण उठ रही है, क्योंकि विगत पाँच अगस्त अयोध्या में राम मन्दिर के भूमिपूजन के अवसर पर आर्यसमाज की भूमिका को लेकर संवादों और सोशल मीडिया में आर्यसमाज के कुछ लोगों ने तो अति उत्साह में खुलकर समर्थन किया, तो कुछ ने घुमा-फिरा कर, तो कुछ ने असहमति व्यक्त की, तो कुछ अन्य मौन रहे। जैसे आर्यसमाज मन्दिर का विरोधी नहीं है, और न मूर्ति-विरोधी है। हाँ, सत्य को तार्किक रूप से समाज के सामने रखना आर्यसमाज का अपना उद्देश्य है। आर्यसमाज जड़ मूर्ति को भगवान् मानने को अज्ञान और अन्धविश्वास मानता है। उसको व्यक्ति, समाज, परिवार एवं देश की प्रगति में बाधक समझता है, अतः उसका समर्थक भी नहीं है। उनके दुष्परिणामों के उदाहरणों से भारत का इतिहास भरा पड़ा है, किन्तु रूढ़िवादी हिन्दू उनसे सीख नहीं ले रहा है, और न लेना चाहता है। आर्यसमाज उस इतिहास से सीख लेने की बात करता है और सहनिवासी हिन्दूसमाज को चेताया करता है; क्योंकि दुष्परिणाम तो दोनों समाजों को साथ ही भुगतने पड़ते हैं।

कुछ आर्यों द्वारा, विशेषतः आर्ययुवाओं द्वारा उठाया गया यह प्रश्न विचारणीय है कि मन्दिर के निर्माणाधीन स्वरूप और उसके शिलान्यास का आर्यसमाज से क्या सम्बन्ध है? उसका समर्थन करना महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की विचारधारा के किस मन्तव्य के अन्तर्गत

स्वीकार्य माना जा सकता है? क्या अब वे हानियाँ और दोष मन्दिर और मूर्तिपूजा में नहीं रहेंगे जिनका उल्लेख महर्षि दयानन्द तथा स्वामी श्रद्धानन्द आदि ने किया है?

कुछ आर्यों ने यह तथ्याधारित प्रश्न भी उठाया है कि यह कौन-से राम का मन्दिर है, महर्षि वाल्मीकि के राम का या पुराणों के राम का? जैसे इसका उत्तर अतिस्पष्ट है कि निर्माणाधीन मन्दिर महर्षि वाल्मीकि और ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के राम का तो निश्चित रूप से नहीं है। फिर कुछ आर्य और आर्यसमाज के अधिकारी किस राम का समर्थन कर रहे हैं? और किस राम के मन्दिर का भूमि-पूजन और शिलान्यास पर बधाइयाँ बाँट रहे हैं? सनातन बन्धु अपना मन्दिर बना रहे हैं, तो बनाएँ। आप अपने मूल सिद्धान्तों की सीमा में तटस्थ रह सकते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में मन्दिर-निर्माण की आलोचना पहली दृष्टि में अप्रिय लग सकती है, किन्तु यह अवश्य विचारणीय है कि यह विषय महर्षि दयानन्द या आर्यसमाज का किस सिद्धान्त या तर्क के आधार पर हो सकता है?

आर्यसमाज में यह विशेषता है कि वह राष्ट्रीय महत्त्व के किसी भी कार्य में निष्ठापूर्वक संलिप्त होकर पूर्ण समर्पण से सहयोग करता है। किन्तु शुरू से एक न्यूनता भी रही है कि वह योगदान करने के बाद उसके फल की बागडोर दूसरों के हाथों में सौंपकर उतने ही निर्लिप्त भाव से दूर होकर बैठ जाता है। बाद में उसे सभी कार्यों के लिए उन्हीं सत्तासीन हुए साथी लोगों के सामने पराश्रित एवं याचक के भाव से झोली फैलानी पड़ी है, परन्तु उसकी झोली खाली रहती रही है।

भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का ही उदाहरण देख लीजिये। उसमें बहुसंख्या में सर्वात्मना योगदान करने और बलिदान देने के बाद जब सत्ता की बागडोर सम्भालने का समय आया आर्यसमाज निर्लिप्त बन कर बैठ गया। ऐसे चालाक राजनीतिक लोग सत्ता का अनैतिक रूप से अपहरण कर ले गये जो इस देश की संस्कृति-सभ्यता, आचार-

विचार, धर्म-दर्शन, परम्परा-प्रकृति से विमुख ही नहीं, अन्तःकरण से विरोधी थे। आर्यसमाज अधिकार-विमुख रहने के कारण उसी दिन से दाता के स्थान पर एक याचक बनकर रह गया था और आज तक याचक ही बना हुआ है। इसके मूल में भूल यह रही है कि तत्कालीन आर्यनीति निर्माता आर्यसमाज को राजनीतिक संगठन नहीं, मात्र एक धार्मिक संगठन बना बैठे। दूसरों के लिए राजनीति में श्रमदान और बलिदान देकर भी वह स्वयं अराजनीतिक बना रहा। महर्षि दयानन्द ने तो यह नहीं कहा था। तभी तो उसे न धर्म मिला, न सत्ता में कोई अधिकार। जबकि इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि धर्म, संस्कृति-सभ्यता, भाषा आदि की प्रतिष्ठा और प्रसार का माध्यम सत्ता ही हुआ करती है। हुआ यह कि जिन लोगों ने अंग्रेजों के देश छोड़ने का विरोध किया था, सत्ता की कुर्सियों पर वही चालाक लोग काबिज हो गये। उन लोगों ने हमारे धर्म को नष्ट-भ्रष्ट किया, हमारी संस्कृति-सभ्यता, इतिहास, साहित्य को भी। सत्तर वर्षों से अब आर्यजन उन्हीं के सुधारों के लिए एक नया संघर्ष कर रहे हैं। स्वतन्त्रता के बाद अनेक आर्य राजनेता बने। आर्यसमाज का अपना राजनीतिक मंच न होने के कारण, व्यक्तिगत राजनीतिक अभिरुचि रखने वाले आर्य भिन्न-भिन्न दलों में बँटे रहे और उनके अनुशासन की अधीनता में दबे रहे। आज भी वही परिस्थिति है। नष्ट-भ्रष्ट इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, धर्म के सुधार के बारे में किसी सरकार में नहीं सुनी गई। आर्य राजनेता आज तक भारत की स्वतन्त्रता और स्वदेशीयता के सर्वप्रथम मन्त्रदाता महर्षि दयानन्द का चित्र तक लोकसभा में नहीं लगवा सके हैं, जबकि उनसे साधारण कितने ही लोगों के चित्र वहाँ लगे हुए हैं।

राम-मन्दिर के आन्दोलन में आर्यों ने अपने उद्देश्य और सैद्धान्तिक स्वरूप को त्यागकर पूर्ण समर्पण के साथ ऐसे सहयोग दिया जैसे यह आर्यसमाज का ही आन्दोलन है। हमें वे दृश्य याद हैं जब राममन्दिर के लिए ईंटें भेजने हेतु श्रीराम का चित्र या मूर्ति आगे रखकर आर्यजन भी उनके जुलूस में सम्मिलित रहते थे। किन्तु हमारे नेताओं ने मन्दिर-निर्माताओं के समक्ष कभी अपना इष्ट पक्ष नहीं रखा कि मन्दिर का क्या स्वरूप होना चाहिए, जिससे वहाँ

यज्ञशाला, वेदों का प्रदर्शन, हनुमान आदि का मानुषी रूप वैदिक शोधपीठ आदि होने चाहियें। बस, हम नारे लगाने वाले ही बनकर रह गये! जिनके साथ मिलकर सहयोग किया, आज उन्हीं के सामने सही प्रस्तावों को लेकर भी हम याचक बने हुए हैं।

सन् १९२१ में केरल के मालाबार क्षेत्र में मुसलमानों द्वारा मोपला हिन्दुओं के नरसंहार में आर्यसमाज ने आगे आकर संघर्ष कर उनको बचाया था, जबकि श्री गाँधी ने संहारकर्ताओं का ही बचाव किया था। सन् १९३९ में हुए हैदराबाद-सत्याग्रह की परिणति भी इसी तरह हुई। सभी हिन्दुओं का वह आन्दोलन आर्यसमाज की सक्रियता के कारण उसी का बन गया और आर्यों के ही अधिक बलिदान हुए। सन् १९६६ के गोरक्षा आन्दोलन में सनातनियों के शिरोमणि स्वामी करपात्री जी अपने जत्थे में अपने स्तर के अनुरूप सत्याग्रहियों की संख्या नहीं जुटा पाये। आर्यसमाज ने अपने सत्याग्रही उनके जत्थे में सम्मिलित किये थे। आर्यसमाज ने सनातनी बन्धुओं के हर संकट में, हर जरूरत में उनसे भी आगे बढ़कर उनका एकतरफा साथ दिया है, उनका अहित कभी नहीं किया। एकतरफा इस कारण कह रहा हूँ, क्योंकि सर्वदा सहयोग करने के बाद भी सनातनियों ने आर्यों को उचित महत्त्व, सम्मान और अधिकार नहीं दिया, अपितु प्रत्येक अवसर पर भेदभाव और उपेक्षाभाव रखा है। निष्कर्ष यह है कि आर्यसमाज दूसरों के द्वारा उपयोग तो होता है, किन्तु किसी दूसरे का यथेष्ट उपयोग नहीं कर पाता।

सनातनी उसका कारण सैद्धान्तिक मतभेद मानते हैं, किन्तु वे मतभेद तो आर्यों के साथ उनके भी हैं। फिर भी आर्यों ने सदा साथ दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि सनातनियों में मतभेदों को पचाने की उदारता नहीं। वैचारिक मतभेदों को मनभेद बनाना मानसिक अनुदारता का दोष है। उनसे व्यवहार प्रभावित नहीं होना चाहिए। मुख्यतः वे मतभेद चार हैं- महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज द्वारा मूर्ति-पूजा एवं अवतारवाद की तार्किक समीक्षा करना। ईश्वर को निराकार और वेदों को धर्मग्रन्थ मानना। ये चारों आर्यसमाज के नवजागरण के नव्यप्रासाद के चार आधारस्तम्भ हैं, और रहेंगे भी। जिस समाज की ये चार

आधारभूत प्रमुख मान्यताएँ हैं, वह आर्यसमाज है; और जो इन पर आचरण करता है, वह आर्य है, महर्षि दयानन्द का अनुयायी है। इन सबका मूल मूर्तिपूजा में निहित है, क्योंकि वह वेद-विरुद्ध है, निराकार ईश्वर को अमान्य करती है, पाखण्ड और अन्धविश्वास उसी के पर्यायवाची नाम हैं। हम भली-भांति जानते हैं कि महर्षि दयानन्द के जीवन-परिवर्तन और समस्त जीवन-दर्शन का प्रेरणास्रोत मूर्तिपूजा और अवतारवाद का मिथ्यात्व ही था। केवल चौदह वर्ष की अवस्था में शिवरात्रि के दिन मूर्तिपूजा से ही उनको सच्चे और मिथ्या शिव का ज्ञान प्राप्त हुआ। मूर्तिपूजा आदि पाखण्ड का खण्डन करने के लिए उन्होंने हरिद्वार के कुम्भ के मेले में 'पाखण्ड खण्डनी पताका' फहरायी। मूर्तिपूजा के कारण अरबों की आय वाले और अपार अचल सम्पत्ति से सम्पन्न हिमालयस्थ ऊखीमठ की महन्ताई के प्रस्ताव को ठुकराया। उससे भी बढ़कर उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह के एकलिंगेश्वर महादेव के राज्य-मन्दिर के महन्त पद के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, जिसके अधिकार के अन्तर्गत पूरा उदयपुर राज्य था। वहाँ पैसा, पद, प्रतिष्ठा, अधिकार सब कुछ था। वही सैद्धान्तिक दृढ़ता आर्यसमाज की पूर्व पीढ़ियों के आचरण में रही है। उन्होंने भी कभी पैसा, पद, प्रतिष्ठा के लिए सैद्धान्तिक दृढ़ता को नहीं छोड़ा और न कभी समझौता किया।

आज आर्यसमाज की जो प्रगति, प्रभाव और प्रतिष्ठा है वह पहली और दूसरी पीढ़ी के आर्यनेताओं और आर्यजनों के त्याग, तपस्या, समर्पण तथा सैद्धान्तिक दृढ़ता की देन है। उनमें मनसा, वाचा, कर्मणा आर्यत्व कूट-कूट कर भरा हुआ था। वे आर्यजन अल्पपठित होते हुए भी स्वाध्यायशील थे, अतः सिद्धान्त-ज्ञान और उनके अनुपालक थे। उस समय बड़े से बड़ा व्यक्ति भी यदि सिद्धान्त-त्याग करता था, तो वह स्वयं ही समाज को छोड़ देता था या फिर उसको अधिकारी पृथक् कर देते थे। आज जो जानकारियाँ मिल रही हैं वे सुखद नहीं हैं। अधिकारी और आर्य, कोई कलैण्डर पर चतुर्भुज दुर्गा का चित्र छाप रहा है, कोई अस्थिकलश गंगा में प्रवाहित कर रहा है, कोई गजानन गणेश के समक्ष नतमस्तक है, कोई शिवलिंग पर जलाभिषेक कर शिवपूजन कर रहा है, तो कोई मन्दिर में

बैठकर मूर्तियों से कृपा माँग रहा है, तो कोई उनके समक्ष नृत्य करके स्वयं को कृतकृत्य समझ रहा है। कोई चैनल और होर्डिंग पर आत्मा को परमात्मा का अंश लिख कर उसे दयानन्द-वाणी घोषित कर रहा है। बहुत-से आर्यपरिवारों में मूर्तिपूजा घर कर गई है। अधिकारियों और नेताओं में भी वह पैठ बना चुकी है। उनका विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सब के सब वीडियो सोशल मीडिया, पुस्तकों और पत्रिकाओं में प्रसारित हैं। आर्य अधिकारी उन पर नियन्त्रण के बजाय उनके भव्य स्वागत-सम्मान में संलग्न हैं। आर्यजनता असमंजस में है कि किसका अनुसरण करें, आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का या आर्यसमाज के वर्तमान नेताओं/अधिकारियों का? इनकी सिद्धान्त-शिथिलता का दुष्प्रभाव तो वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों पर पड़ना निश्चित ही है। आज के नेतृ-वर्ग के आचरण के आलोक में, आर्यजन उस घटना पर भी सिंहावलोकन करें कि महर्षि ने पैसा, पद, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, मन्दिर एवं मूर्तिपूजा विषयक राणा और महन्त का प्रस्ताव स्वीकार क्यों नहीं किया था?

जो तथ्य सामने हैं और जो स्थितियाँ बनी हुई हैं, उनको लेकर अनेक आर्यों को यह आशंका बन रही है कि यदि उक्त सैद्धान्तिक भेद मिट जायेगा तो आर्यसमाज और हिन्दुत्व का अन्तर भी समाप्त हो जायेगा। क्योंकि हिन्दू तो पहले से ही मूर्तिपूजक हैं, यदि आर्य भी मूर्तिपूजक और अन्धविश्वासी हो जायेंगे तो दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। अतः आर्यचिन्तकों की यह आशंका सही है कि जैसे सिद्धान्तों के त्याग से बौद्धमत भारत में अपनी पहचान खो चुका है, छोटे-छोटे मत-मतान्तर हिन्दुत्व के महासागर में एकाकार हो चुके हैं। ब्रह्मसमाज एवं देवसमाज हिन्दुत्व में विलीन हो गये हैं। ऐसे किसी कालान्तर में हिन्दुत्व के महासागर में कहीं हमारा आर्यसमाज भी समाहित न हो जाये! यदि समाहित होने से आर्यसमाज की रक्षा करनी है, तो आर्यों को सिद्धान्तविहीनता और समझौतावाद का मार्ग त्यागकर महर्षि दयानन्द द्वारा आदेशित और उनके द्वारा अपने जीवन में आचरित आर्यत्व के परिचायक मूल सिद्धान्तों की रक्षा करनी ही होगी।

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

## मृत्यु सूक्त-५५

प्रवचनकर्ता- डॉ. धर्मवीर

लेखिका - सुयशा आर्य

परोपकारिणी सभा के पूर्वप्रधान डॉ. धर्मवीर जी के वेद-विज्ञान के अन्तर्गत प्रसारित व्याख्यानों की जनोपयोगिता को ध्यान में रखकर 'परोपकारी' में प्रकाशित किया जा रहा है। व्याख्यानों के लेखन का कार्य उनकी ज्येष्ठ पुत्री सुयशा आर्य कर रही हैं। -सम्पादक

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूप वञ्चना।

माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥

हम ऋग्वेद के दशम मण्डल के १८ वें सूक्त की चर्चा कर रहे हैं। इसको हम मृत्यु-सूक्त कहते हैं। इसका ऋषि यामायनः देवता पितृमेध है। आज हम इसके ११ वें मन्त्र की चर्चा कर रहे हैं। इस मन्त्र में एक बहुत बड़ा विज्ञान है और एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान भी है। जब मृत्यु का प्रश्न आता है तो मृत्यु का प्रश्न जन्म से जुड़ा है। ऐसा नहीं हो सकता कि मृत्यु की चर्चा हो और जन्म की चर्चा न हो। मृत्यु जन्म का परिणाम है। जन्म हुआ था इसलिए मृत्यु है और मृत्यु है इसलिए जन्म होगा। ये दोनों चीजें आपस में बहुत जुड़ी हुई हैं। इसका हमने विस्तार से विचार किया है।

इस मन्त्र के शब्द हमें विशेष दिशा की ओर इंगित करते दिखाई देते हैं। **उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः** - हमने पिछले मन्त्र में देखा था कि पृथिवी को माता कहा था, इससे सुख देने की प्रार्थना की थी। हम पृथिवी को वैसे ही माता नहीं कहते, यह हमारा पालन-पोषण करती है इसलिए यह हमारी माता है, परन्तु यह उसका बहुत ही स्थूल विश्लेषण है। इसका वास्तविक गम्भीर विचार इस मन्त्र में है, क्योंकि माँ केवल पोषण करने से माँ नहीं है, यह पृथिवी जन्म देने से भी माँ है। वैसे तो माँ पृथिवी तत्त्व का रूप होने से पृथिवी हमारी जन्मदात्री है, लेकिन हम जिसे जन्म-मृत्यु कहते हैं वह जिससे हो रही है, जिससे हमें यह रूप मिलता है, हम उसे माँ कह रहे हैं। लेकिन हम देखते हैं प्रकृति से, सृष्टि से, पृथिवी से हमें ऐसा रूप नहीं मिलता है, जैसा मनुष्य के रूप में हमें उस माँ से

मिलता है, इसलिये हम उसे जन्म का कारण मानते हैं। हम पृथिवी को माँ कहें तो समझ में नहीं आता क्योंकि हमने प्राणियों से प्राणियों का जन्म होते देखा है। इस संसार में दो तरह के पदार्थ हैं-जड़ और चेतन, उनमें जन्म का सम्बन्ध जड़ से नहीं है। जड़ से चीज तो बनती है लेकिन उसका बनना जन्म नहीं कहलाता, उसे निर्माण, रचना आदि पुकारा जाता है। उसकी मुख्य बात यह रहती है कि उसको बनाने वाला, साधन लेता है और जोड़ता है। लेकिन आत्मा की विशेषता है कि वह जहाँ रहता है वहाँ अपने जैसी रचना, निर्माण करता है। इस निर्माण को हम दो तरह से इस संसार में देख सकते हैं। एक हम अपने शरीर को देखें, तो शरीर में जो वृद्धि हो रही है वह इसके बाहर कुछ लगाने से नहीं होती, इसके अन्दर से हो रही है।

हमारे सामने इस पर विचार करते हुए बहुत प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। एक, हमने देखा कि संसार में दो पदार्थ हैं जड़ और चेतन। हम कैसे पहचानें कि यह जड़ है या चेतन? इसके लिए कुछ मोटे-मोटे प्रमाण हैं, युक्तियाँ हैं जिनसे यह देखा जाता है कि उनमें एक सामान्य सिद्धान्त है, चेतन अपने जैसे चेतन (शरीर युक्त) को उत्पन्न कर सकता है। यदि हिरण से हिरण पैदा होता है तो हिरण चेतन है। मुर्ग से मुर्गा पैदा होता है तो मुर्गा चेतन है। भैंस से भैंस पैदा होती है तो भैंस चेतन है। तो जो चेतन चीज है वह चाहे मनुष्य है या प्राणी, इसी आधार पर हम वनस्पतियों को भी चेतन या (अनुभूति के स्तर पर) अर्द्धचेतन मानते हैं और यह अन्तर है। जैसे मनुष्य में यह चेतना अथवा अनुभूति

की शक्ति जितनी सक्रिय है उतनी पशु में नहीं है। पशु में जितनी सक्रिय है उतनी मनुष्य में नहीं है। तो चेतना का विस्तार और संकोच आप अलग-अलग देख सकते हैं। इसलिए जो पदार्थ चेतन (शरीरधारी) है, वह अन्दर से बढ़ता है और जड़ पदार्थ को बढ़ाना हो तो हमें बाहर से बढ़ाना पड़ता है। एक दीवार को हम मोटा करना चाहते हैं तो उसके अन्दर से कुछ नहीं डाला जाता है, एक ईंट के साथ दूसरी ईंट लगाई जाती है। एक पत्थर के साथ दूसरा पत्थर चिपकाया जाता है तब वह दीवार बड़ी हो जाती है। जितने भी जड़ पदार्थ हैं, वे बाहर से बढ़ते हैं और चेतन पदार्थ अन्दर से बढ़ते हैं। इस दृष्टि से हम मनुष्यों को, प्राणियों को, जीवों को चेतन कहते हैं। पहली चीज है कि वे अपने जैसी चीज को उत्पन्न कर सकते हैं। पहाड़ से पहाड़ या पत्थर से पत्थर उत्पन्न नहीं होता। कोई भी जड़ वस्तु बिना चेतन के किसी को उत्पन्न नहीं कर सकती। जहाँ चेतना है वहाँ सुख-दुःख की अनुभूति होती है। राग-द्वेष इच्छा, ज्ञान-अज्ञान इसका पता रहता है। न्यायदर्शन में जब आत्मा का लक्षण किया है, तो कहा- **इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्**। इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, ज्ञान, प्रयत्न- ये चीजें जहाँ पाई जाती हैं वहाँ आत्मत्व का भान होता है, चैतन्य का भान होता है। तो जो वस्तु अपने जैसी वस्तु को उत्पन्न कर सकती है, वह चेतन है, जो अन्दर से बढ़ती है वह चेतन है, जिसमें राग-द्वेष, इच्छा, सुख-दुःख, प्रयत्न, ज्ञान इनमें से कुछ या सारी अनुभूतियाँ पायी जायें, उतने अंश में हम उसमें चैतन्य का अनुभव करते हैं। इस आधार पर हम संसार के सारे पदार्थों को बाँट सकते हैं कि कौनसा जड़ और कौनसा चेतन है। और जड़-चेतन पदार्थ एक से होने पर अन्तर आया है।

हम इस शरीर को भोजन से बढ़ाते हैं, लेकिन भोजन से उत्पन्न नहीं कर सकते और वह प्रक्रिया प्रकृति में जैसी है वैसी ही चलती है। अब इसमें एक विचारणीय प्रश्न है- हम देखते हैं कि भोजन से हम बढ़ रहे हैं, जब भी शरीर होगा, वह भोजन से बढ़ेगा। खान-पान से बढ़ेगा, उसके अभाव में घट जाएगा, समाप्त हो जाएगा। इसलिए पहली चीज यह पता लगती है कि यह प्राकृतिक पदार्थों से बना

है। क्योंकि यह प्राकृतिक पदार्थों के मिलने से, सदुपयोग से बढ़ता है और न मिलने से, दुरुपयोग से घट जाता है, इसलिये प्रकृति के पदार्थों से इसके घटने-बढ़ने का सीधा सम्बन्ध है। लेकिन हमारी समस्या यह है कि जब यह चीज प्रकृति के पदार्थों से घट-बढ़ रही है तो इसका जन्म क्यों प्रकृति के पदार्थ से नहीं होता? यह केवल सोचने का तरीका है, होता तो प्रकृति के पदार्थ से ही है। यह ऐसे है कि आप कहो यह सोना है तो मिट्टी, पर मिट्टी से हम क्यों नहीं सोना बनते हुए देखते? ऐसा लगता है जैसे सोना अलग चीज है और मिट्टी अलग चीज है, लोहा अलग चीज है, ताँबा अलग चीज है। लेकिन इतना तो हम भी जानते हैं कि ये सब हैं तो वही, लेकिन जब हम सोने की कोई चीज बनाते हैं तो सोना ही लेना पड़ता है। मनुष्य का शरीर भले ही भौतिक पदार्थों से बना है, लेकिन भौतिक पदार्थों का जो विकसित रूप है, वह उसका निर्माण करने का सहायक कारण है, मूल रूप आधार है। अतः शरीर से शरीर निर्माण के लिए शरीर मूल कारण है। बढ़ने-घटने के लिए भौतिक पदार्थ, भोजन, खान-पान, अन्न, वस्त्र कारण हैं। उनका सम्बन्ध तो है लेकिन तात्कालिक नहीं है, जन्म का नहीं है उसके निर्माण का सीधा आधार नहीं है, प्रकारान्तर से है। जब प्रकारान्तर से है तो आप पीछे कहीं जायेंगे तब आपको साक्षात् भी दिखाई देगा। जैसे आज का भवन है, उस भवन को हम देखते हैं कि उसमें अलग-अलग वस्तुएँ लगी हुई हैं और अलग-अलग वस्तुओं से इसका निर्माण हुआ है, हर वस्तु अलग दिखाई देती है, लेकिन जब यह खण्डहर में बदल जाता है और लोहा तक गल जाता है, लकड़ी भी गल जाती है, ईंट भी गल कर मिट्टी हो जाती है, उस समय हमें पता लगता है कि यह सब एक है। यह हमारा शरीर कितना भी अलग दिखाई देता हो, लेकिन जब यह मूल में विलीन होता है तो पता लगता है कि एक है। ये सारे पदार्थ एक हैं। उसी एक का यह विस्तार है, निर्माण है, अलग-अलग रचना है। यह बात यदि हम निश्चित समझ लें कि मूल में कहीं जाकर एक है तो समझ जायेंगे कि ये सब चीजें मूल से पैदा होकर के अपने से दूसरी चीजों को पैदा कर रही हैं इसलिये अलग

हैं। यदि ये चीजें मूल से पैदा होतीं तो वैसी ही होतीं। जैसे ही यह जो शरीर है, यह शरीर से पैदा होता है, एक प्राणी से दूसरा प्राणी उत्पन्न होता है, एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है। ये प्रक्रियाएँ हमको और पीछे ले जाती हैं तो सब वस्तुएँ अलग-अलग रूप में नहीं होंगी तो एक ही रूप में होंगी।

हमारे पूरे पठन-पाठन में, ज्ञान-विज्ञान में समस्यायें आती हैं और लोग उसका समाधान खोजते हैं, लेकिन कुछ समस्यायें हमारे सामने ऐसी हैं, पता नहीं कब से हैं और उनका हम समाधान आज तक नहीं खोज सके। शेर से शेर उत्पन्न होता है यह तो हमको मालूम है, लेकिन हमने यदि शेर नष्ट कर दिये, जाति समाप्त हो गयी तो कैसे पैदा करेंगे? इसका उत्तर हमारे पास नहीं है। क्यों? क्योंकि हम विकास के बाद की स्थिति से जुड़े हैं, उसकी पहली स्थिति से नहीं जुड़े। पहली स्थिति पर हमारा वश भी नहीं है। जब तक हमें कारण नहीं मिलता तब तक हम कार्य नहीं कर सकते। हाँ, कारण मिल जाये तो हम कार्य कर सकते हैं। हमने कहीं बीज को सुरक्षित कर लिया हो, कोई उपाय खोज लिया हो, बीज को ढूँढ लिया हो, तो उसका विकास हम कर लेते हैं। लेकिन यदि कारण नहीं हो, बीज नहीं हो तो हम कुछ भी नहीं बना सकते। तो इसे बनाने के

लिये कारण चाहिये। पर हमारी समस्या इससे आगे की है कि वह कारण कैसे बना? वह कारण रचना का आधार तो बन गया, पर वह भौतिक है तो उसको किसने बनाया? वह रचना का मूल आधार कैसे बना? इसका उत्तर हमारे पास सामान्य रूप में नहीं है, लेकिन वेद इसका उत्तर देता है।

**उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूप वञ्चना-** मन्त्र कह रहा है कि आज जीवन पृथ्वी पर है तो प्रारम्भ कहीं बाहर से कैसे होगा? इसमें बनना-बिगड़ना, पैदा होना, सब इस पृथ्वी पर ही तो चल रहा है। प्राणियों का जन्म प्रारम्भ में कैसे हुआ होगा क्योंकि यह सब कार्य है तो कारण में विलीन हो गया होगा। घड़ा बन गया मिट्टी से, लेकिन घड़ा टूट गया तो मिट्टी ही बनेगा तो वैसे यह शरीर नष्ट होता है तो भूमि में, मिट्टी में मिल जाता है तो इसकी रचना उसी से हुई यह सिद्ध होता है। तो जब यहाँ मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु, पक्षी से पक्षी उत्पन्न होता हुआ हम देख रहे हैं तो मन में एक जिज्ञासा होती है, एक प्रश्न पैदा होता है कि हमारे माता-पिता से हमारा जन्म हुआ, उनके माता-पिता से उनका जन्म हुआ, यह जो प्रक्रिया निरन्तर चल रही है, इस प्रश्न का इस मन्त्र में विचार किया गया है।

## लेखकों से निवेदन

- लेखक कृपया अपने मौलिक व अप्रकाशित लेख ही भेजें।
- लेखक अपना पूरा पता व चल-दूरभाष संख्या लेख के साथ अवश्य लिखें।
- परोपकारिणी सभा द्वारा रचनाओं के लिए किसी प्रकार का भुगतान नहीं किया जाता है।
- अपनी रचना की एक प्रति कृपया अपने पास रखकर भेजें, क्योंकि अस्वीकृत रचनायें डाक द्वारा लौटायी नहीं जाती हैं।
- रचना के प्रकाशन में छः माह या अधिक समय भी लग सकता है, अतः कृपया तब तक रचना को अन्यत्र न भेजें।
- स्वीकृत रचना परोपकारी के किसी आगामी अङ्क में देखी जा सकती है।

-सम्पादक

जो विद्या की वृद्धि के लिए पठन-पाठन रूप यज्ञ कर्म करने वाला मनुष्य है वह अपने यज्ञ के अनुष्ठान से सब की पृष्टि तथा संतोष करने वाला होता है इससे ऐसा प्रयत्न सब मनुष्यों को करना उचित है।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ७.२७

## कुछ तड़प-कुछ झड़प

प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

**भूलचूक के लिये खेद-क्षमाप्रार्थी-** इस बार परोपकारी के गुणी धर्मप्रेमी पाठकों ने 'तड़प झड़प' के लिये बहुत विषय सुझाये हैं। अधिकांश पर अति संक्षेप से प्रकाश डाला जावेगा। परोपकारी के एक अङ्क (सम्भवतः जुलाई प्रथम) में देशभक्त महाराजा रज्जीतसिंह के छोटे पुत्र पंजाब के अन्तिम भारतीय शासक महाराज दिलीपसिंह को पादरी नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा ईसाई बनाये जाने की घटना का उल्लेख किया गया है। मुद्रण दोष से अथवा लेखनी की फिसलन से वहाँ पुत्र की बजाय पौत्र छप गया है। इसके लिये विनीत क्षमाप्रार्थी है। हमने अपने साहित्य यथा 'मैक्समूलर का एक्सरे' आदि में जहाँ-जहाँ भी यह घटना दी है उसे महाराजा का पुत्र ही बताया है।

**जब गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय का पूरा विभाग मिलने आया-** कोई १८-२० वर्ष हो गये गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय के Sikh Theology (सिख मत) विभाग का पूरा स्टाफ-विभाग अध्यक्ष भी यहाँ कुछ जानकारी लेने इस सेवक के पास पहुँचे। वे पहले कादियाँ भी यह जानकारी लेने गये कि श्री पं. लेखराम जी ने सिखों को धर्मच्युत होने से बचाने तथा गुरुओं के गौरव की रक्षा के लिये जो कुछ भी किया वह सप्रमाण बताया जावे। कादियाँ में उन्हें कहा गया कि तत्कालीन पत्रों के प्रमाणों से तो 'जिज्ञासु' जी ही ऐसी एक-एक घटना सप्रमाण दे सकते हैं। वे सब इसी उद्देश्य से समय निकालकर अमृतसर से अबोहर पहुँचे।

इसके साथ उन्होंने विश्वविद्यालय का एक और कार्य जोड़ लिया। आने से पूर्व डी.ए.वी. कॉलेज को अपने आगमन की सूचना दे दी। उनके निवास आदि की सब व्यवस्था भी कॉलेज में थी। उन्होंने कॉलेज में पहुँचते ही प्रिंसिपल से कहा, "हमारे साथ अपना एक कर्मचारी दीजिये जो हमें 'जिज्ञासु' जी के घर पहुँचा दे। हमने उनके दर्शन करने हैं। कुछ पूछना है।"

प्रिंसिपल महोदय ने कहा, "हम यहीं जिज्ञासु जी को बुलवा देते हैं।"

सिखों में जब धर्म-भाव लहरें लेता है तो फिर उनकी श्रद्धा बस देखे ही बनती है। प्रिंसिपल चावला का यह

वाक्य सुनकर विश्वविद्यालय के विभाग अध्यक्ष ने तपाक से कहा, "रहने दो। हम आप ही पता करके पहुँच जावेंगे। मैं कह रहा हूँ कि मैंने जिज्ञासु जी के दर्शन करने हैं। कुछ पूछना है और आप कह रहे हैं कि यहीं बुलवा देते हैं।" कॉलेज वालों को उनसे काम था सो झट से कॉलेज का कार्यालय अध्यक्ष उनको लेकर समीप ही हमारे घर लेकर आ गया। उन्होंने बैठते ही अपने आगमन की यह बात सुना दी।

मैंने अत्यन्त आदरभाव से उनका स्वागत करके बिठलाया। उनमें से एक ने मेरे पैर छूकर नमस्ते की तो मैं इसका कारण जानना चाहता था, परन्तु पूछते हुये सकुचा गया। वे पाँच-छः सज्जन थे। एक कुर्सी कम पड़ी तो मैं साथ वाले कमरे से कुर्सी उठाने गया तो उसी युवक ने आग्रहपूर्वक कहा, "आप रहने दीजिये। मैं कुर्सी ले चलता हूँ।"

हम सब बैठ गये और उन्होंने पं. लेखराम जी की सिखों को बचाने तथा गुरु नानकदेव जी के मुसलमान होने पर मिर्जा कादियानी की पुस्तक 'सिख मत खण्डन' (सत बचन) के प्रतिवाद पर पूज्य पण्डित जी के व्याख्यानों व लेखों की जानकारी देने की माँग की। इस विषय में पण्डित जी के जालन्धर छावनी में दिये गये ज्ञानवर्द्धक, खोजपूर्ण ज़बरदस्त व्याख्यान पर जब उन्हें सप्रमाण भरपूर जानकारी दी गई तो विभाग-अध्यक्ष बोले, "मिर्जाई मत विषयक आपके गहन अध्ययन के बारे में मुझे कादियाँ में बहुत कुछ बताया गया। अब प्रत्यक्ष देख लिया।"

इस पर वह युवक जो कुर्सी उठाकर लाया था, जिसने पैर छूकर अभिवादन किया था, बोला, "इनके जोशीले विचारोत्तेजक व्याख्यान मिर्जाई मत पर आप सुनेंगे तो दंग रह जावेंगे।"

सेवक ने उसे पूछा, "आपको मेरे जोशीले व्याख्यानों का कैसे पता लगा?"

उसने कहा, "मैं कादियाँ से हूँ। आपके भाई प्रि. देसराजजी के घर के पास हमारा घर है।" और पूछने पर पता चला कि वह युवक मेरे फिलॉसफी के प्रोफेसर पूज्य ज्ञानी हरिसिंह जी के परिवार से है। उसे यह ज्ञात था कि



ज्ञानी जी मुझसे विशेष स्नेह रखते थे।

पं. लेखराम जी के सिखों की रक्षा के कई प्रसंग सुनाये। यहाँ भावों में बाढ़ आने पर केवल तीन-चार ही संक्षेप से देंगे। स्यालकोट छावनी में दो सिख युवक मुसलमानों की संगति व इस्लामी साहित्य पढ़ते-पढ़ते मुसलमान होने को तैयार हो गये। उन्होंने सिंह सभा स्यालकोट को 'बाबे की बेरी' बड़े गुरुद्वारे में सूचना दे दी, "हमारे प्रश्नों का या तो उत्तर दे दो अन्यथा हम मुसलमान बनेंगे।" उनमें से एक सुन्दरसिंह तो शास्त्रार्थ की चुनौती दे रहा था।

सिंह सभावालों ने आर्यसमाज स्यालकोट से मिलकर यह निवेदन किया कि आप पं. लेखराम जी को एक बार यहाँ बुलावें, तभी ये दोनों युवक मुसलमान बनने से बचाये जा सकते हैं। समाज ने अपने उप प्रधान को महात्मा मुंशीराम जी से मिलकर पं. लेखराम जी का कार्यक्रम बनाने का दायित्व सौंपा। पं. लेखराम ऐसे कार्यक्रम को प्राथमिकता देते थे। वह झट से स्यालकोट पहुँच कर सीधे समाज के मन्त्री बाबू लाभामल वकील के घर गये। उन्हें अविलम्ब उन दोनों सिख युवकों के पास ले चलने का आग्रह किया। तीन मील की दूरी पर लाला लाभामल उनको छावनी में ले गये। पण्डित जी ने उनसे लम्बी धर्म-चर्चा की। उनके सब प्रश्नों के उत्तर दिये। बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

इधर रात्रि अपने व्याख्यान की व्यवस्था करने को कह गये। वे दोनों रात को पण्डित जी को सुनने समाज मन्दिर पहुँच गये। हिन्दू सिख श्रोताओं की भारी भीड़ थी। तिल धरने को स्थान नहीं था। सुन्दरसिंह ने ढेरों प्रश्न किये। प्रश्नोत्तर क्या यह एक शास्त्रार्थ था। पण्डित जी के व्याख्यान का उन दोनों पर गहरा व अमिट प्रभाव पड़ा। सुन्दरसिंह पण्डित जी का दीवाना बन गया। उसने आजीवन आर्यसमाज की सेवा की। यह प्रसंग पं. लेखराम जी पर हमारे ग्रन्थ में पढ़िये।

**स्यालकोट का समाज मन्दिर**- यहाँ यह बताना उपयोगी रहेगा कि आर्यसमाज मन्दिर स्यालकोट की भूमि महाराज रणजीतसिंह के पौत्र जंगजोध सिंह ने आर्यमन्दिर के निर्माणार्थ दान में दी थी। इस पवित्र दान का ही यह फल था कि इस आर्यसमाज ने धर्मरक्षा, समाज-सुधार व धर्मप्रचार के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये। पण्डित लेखराम जी के सिखों की रक्षा के और प्रेरक प्रसंग देने के

साथ आर्यसमाज स्यालकोट की ऋषि मिशन को ऐतिहासिक देन की भी कुछ सामग्री भेंट करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

आर्यसमाज के इतिहास के सबसे बड़े साहित्यकार तथा दार्शनिक पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय को बाल्यकाल में आर्यसमाज के रंग में रंगने का श्रेय आर्यसमाज स्यालकोट के श्रेष्ठ विद्वान् लेखक लाला गणेशदास जी की पुस्तक 'कागहंस परीक्षा' को भी प्राप्त है। शहीद गणेशदासजी की इस सेवा का स्मरण करके हमारा सिर ऊँचा होता है। आर्यसमाज के आरम्भिक काल के भजनोपदेशक पं. लाभचन्द जी को और दादा बस्तीराम को आर्यसमाज को जन आन्दोलन बनाने का श्रेय प्राप्त है। पं. लाभचन्द जी स्यालकोट के थे। यह पता नहीं कि ऋषि-दर्शन आपने कहाँ किये। पण्डित जी मेघ बरादरी से सम्बन्ध रखते थे। समाज को विद्वान् पुत्र (गुरुकुल कांगड़ी का स्नातक) दिया।

लाला गंगाराम जी, खुशहालचन्द जी की सेवायें इतिहास में वर्णित हैं। प्रसिद्ध आर्य गीतकार पं. नन्दलाल जी का भी इस समाज से विशेष सम्बन्ध रहा। वर्तमान काल के सबसे बड़े आर्य गीतकार पं. सत्यपाल जी पथिक का निर्माण पं. बनवारीलाल जी स्यालकोट द्वारा हुआ। इस सेवक ने गत ७५ वर्षों में समाज की कुछ सेवा की है तो इसका श्रेय आर्यसमाज स्यालकोट को भी प्राप्त है। सत्संग में कोई जावे न जावे यह सेवक स्यालकोट में यज्ञ-हवन के आरम्भ होते ही पहुँच जाया करता था। विश्वप्रसिद्ध आर्य कहानीकार साहित्यकार **पं. सुदर्शन जी** की चर्चा स्यालकोट में पढ़-सुनकर इस विनीत को भी आर्यसामाजिक साहित्य में नये-नये कीर्तिमान बनाने का सौभाग्य प्राप्त हो गया।

सुदर्शन जी 'भारत', 'जाट गजट', 'आर्यगजट', 'चन्दन' आदि कई आर्यसामाजिक पत्रों के सम्पादक रहे। श्रीमद्दयानन्द प्रकाश का उर्दू में ऐसा अनुवाद किया कि लगता ही नहीं कि यह अनुवाद है। आर्यसमाज में कभी कोई सिरफिरा सुदर्शन जी की इस देन का फिर से प्रकाशन करवायेगा। नेता तो उन्हें ओर उनकी देन को भूल गये। आर्यसमाज स्यालकोट की इस बेजोड़ देन पर कुछ लिखने का आर्यजगत् में किसी को कभी सूझा ही नहीं। सुदर्शन जी के नाम का समाज लाभ उठा ही नहीं सका। उनका

जन्म उसी मुहल्ले में हुआ था जिसमें वीर हकीकत जन्मे थे। इस आयु में भी वे गलियाँ मेरे नयनों के सामने घूम जाती हैं।

**जब सिख सैनिकों ने पं. लेखराम जी को उठा लिया-** इस बेजोड़ प्रसंग को सुनकर गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय के उपरोक्त विद्वान् भावुक हो गये थे। मिर्जा कादियाँ की पुस्तक 'सिखमत खण्डन' (सत बचन के विज्ञापन में उसका यही नाम हुआ करता था) छपते ही सिखों में निराशा सी व्याप्त हुई। तब पं. लेखराम उत्तर देने को आगे आये। जालन्धर में मुनादी करवाकर पण्डित जी ने अपने व्याख्यान का खूब प्रचार करवाया। 'गुरु नानक जी विषयक हमारे विचार' यह था व्याख्यान का विषय। कुछ सिखों को भ्रम सा हुआ पता नहीं यह पण्डित जी व्याख्यान में क्या कहेंगे। छावनी से सिख सैनिक बड़ी संख्या में उन्हें सुनने आये थे। महात्मा मुंशीराम जी भी उस सभा में उपस्थित थे। हिन्दू सिखों ने बड़ी श्रद्धा से पण्डित जी को सुना। युक्ति, तर्क तथा प्रमाणों की पण्डित जी ने झड़ी सी लगा दी। मुसलमान पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाले को काफिर मानते हैं। पण्डित जी ने पुनर्जन्म विषयक गुरु जी के कई शब्द सुनाये। जीव व प्रकृति के अनादित्व, ओ३म्कार की महिमा, कर्मफल सिद्धान्त की पुष्टि में गुरुजी के वचन सुनाकर इस्लाम के खण्डन में लिखे गये शब्द भी सुना दिये।

महात्मा मुंशीराम जी ने अपने सम्पादकीय में तब लिखा कि व्याख्यान की समाप्ति पर सिख सैनिकों में बारी-बारी पण्डित जी को अपने कन्धों पर उठाने की होड़ सी लग गई। जैसे अखाड़े में प्रशंसक जीतने वाले पहलवान को उठाया करते हैं, उस समय सिख वीरों में पण्डित जी को कन्धे पर उठाने की ऐसी ही प्रतिस्पर्धा थी। अरबी में आयतों वाले चोले के प्रचार का प्रपंच मिर्जा ने रच रखा था। पण्डितजी ने उसकीभी हवा निकाल दी। मिर्जा का कथन था कि इस पर आयतें लिखी हैं। यह आग लगाने पर भी नहीं जलेगा। पण्डित जी ने चुनौती दी, "मैं इसे दियासलाई दिखाता हूँ। देखते हैं कैसे नहीं जलता?"

एक सिख सम्पादक ने भी बाद में मिर्जा के उत्तर में एक पुस्तक लिखी। इसको पं. लेखराम जी की रंगत में लिखा गया। इसे अजमेर में सभा को भेंट करके सुरक्षित कर दिया है। कोई तो कभी पढ़ेगा। इसकी अन्तःसाक्षी से

यह स्पष्ट पता चलता है कि इसके लेखन में पं. लेखराम का भी सहयोग लिया गया। इसके लेखक ने मिर्जा की पुस्तक को "गालियों की लुगात" (गालियों का शब्दकोश) लिखा है।

पण्डित जी का पहला व्याख्यान उनके एक खोजपूर्ण लेख का वाचन था। इसमें गुरुजी के बहुत से वेदोक्त वचनों के प्रमाण थे। इसे खोजकर कभी हमने प्रकाशित करवा दिया था।

'कुल्लियाते आर्य मुसाफिर' के परोपकारिणी सभा, अजमेर से प्रकाशित पहले भाग में गुरुनानक देव जी के पुनर्जन्म पर बहुत से वचनों को एक अध्याय के रूप में देकर पण्डित जी ने सिखों का बहुत उपकार किया। इससे कादियानियों की अच्छी कमर टूटी। एक सिख वकील ने स्वामी श्रद्धानन्द जी से कहा था कि पण्डित जी को कहकर, मिर्जाई मत की बोलती बन्द करने के लिये पण्डित जी गुरु नानक जी और इस्लाम पर एक पृथक् पुस्तक रच दें। आपने इस दिशा में क्या-क्या किया और क्या-क्या दिया-यह अमृतसर वालों को विस्तार से बताया।

**ऋषि-जीवन में नामों का अशुद्धिकरण-** स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी तथा स्वामी वेदानन्द जी महाराज के पश्चात् पं. शान्तिप्रकाश जी तथा ठाकुर अमरसिंह जी के निधन से ऋषि-जीवन में प्रदूषण को रोकने वाला कोई व्यक्तित्व न रहा। किसी ने एक प्रश्न पूछा है कि अजमेर सभा से प्रकाशित आपकी पुस्तक 'नवयुग की आहट' में आर्यसमाज अमृतसर की स्थापना मियाँ जान मुहम्मद की कोठी में हुई आपने लिखा है। बहुत से लेखकों ने 'मियाँ मुहम्मद जान की कोठी' लिखा है। वास्तविक नाम क्या है? प्रामाणिक प्रकाश डालने की माँग की है। प्रश्नकर्ता ने हमारे व्याख्यानों में भी उस कोठी का यही नाम 'मियाँ जान मुहम्मद की कोठी' ही सुना है।

हमारा निवेदन है श्री धर्मेन्द्र जी 'जिज्ञासु' के साथ हमने मियाँ जान मुहम्मद द्वारा बनवाई गई उस समय की मस्जिद देखी थी। उस पर उसका यही नाम लिखा हुआ है। पं. लेखराम जी ने यही नाम लिखा है। लक्ष्मण जी ने यही नाम आर्यसमाज अमृतसर की स्थापना की चर्चा करते हुये लिखा है, परन्तु अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर आपने भी उस ग्रन्थ में मुहम्मद जान लिखने की भूल कर दी। हम इस भूल का अनुवाद व सम्पादन करते समय सुधार

न कर पाये। इसका हमें खेद है। अब तो पण्डित लेखराम जी के ऋषि जीवन के नये सम्पादक जी ने **कई ठीक-ठीक नामों को बदलकर भारी बिगाड़ कर दिया है।**

इस अनर्थ का सुधार कैसे हो? धर्मेन्द्र जिज्ञासु जी यह कार्य कर सकते हैं। यह सेवक उनको पूरा सहयोग देगा। अब ऋषि भक्त इस विनीत से यह कार्य ले लें। धर्मेन्द्र जी उर्दू नहीं जानते। मूल ग्रन्थ उर्दू में अपने पास है। यह कार्य मेरे जीते जी न हुआ तो फिर इसके होने की कोई सम्भावना ही नहीं।

जिस श्रीमान् ने इसे 'विवरणों का पुलन्दा' लिखा उसी ने कभी इसे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। वह इसका तब सम्पादक बनना चाहता था। उर्दू न जानने से मेरा सहयोग माँगा था। भला जब उर्दू का ज्ञान नहीं तो उसके सम्पादन की योग्यता न होने पर ऐसा करना क्या यह अशोभनीय दुस्साहस बुद्धिमानों को जँचेगा, परन्तु उसकी मनोकामना पूर्ण हो गई, भले ही अनर्थ हो गया।

**डॉ. वेदपाल जी के कहने से-** डॉ. वेदपाल जी जब अबोहर इस विनीत का कुशलक्षेम पूछने आये तो चलते समय बड़ी गम्भीर मुद्रा में यह सुझाव देते गये कि अब उर्दू के पुराने दुर्लभ मौलिक महत्त्वपूर्ण छोटे-बड़े ग्रन्थों का अनुवाद, सम्पादन करते जाओ। जितना यह कार्य हो सके, कर दो। आपके पश्चात् फिर...मैंने उनके जाने के अगले दिन ही एक पुस्तक का उद्धार आरम्भ कर दिया। अब एक और उर्दू पुस्तिका का अनुवाद, सम्पादन कल पूरा कर दिया। इसके लेखक प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी वेदानन्द जी महाराज हैं। आर्यसमाज नाम की यह पुस्तिका अपने विषय की सबसे अनूठी व मौलिक कृति है। इसमें आर्यसमाज के दस नियमों की मौलिक व्याख्या को ही आर्यसमाज बताया गया है।

आर्यसमाज के सुधार, उपकार के अन्य कार्यों पर मात्र तीन पृष्ठ लिखे हैं। पहले नियम का दूसरे से क्या सम्बन्ध है और दूसरे का पहले से क्या सम्बन्ध है। इसे अत्यन्त रोचक शैली से समझाया गया है। एक शब्द का दूसरे से क्या सम्बन्ध है? यही इसकी विशेषता है। यह पुस्तिका कहीं भी नहीं देखी गई। हमें एक प्रति कभी किसी ने भेंट कर दी थी। यह जनसाधारण तथा गुणीजनों (masses and classes) सबके लिये बहुत प्रचारोपयोगी है। एक माननीय विद्वान् की प्रेरणा से छोटा

होने पर भी यह महत्त्वपूर्ण अत्युत्तम कार्य हो गया। इसका हमें अत्यन्त सन्तोष है।

**यह छोटी सोच घातक है-** यह सन् १९५८ की बात है। पं. धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड कृत 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' ग्रन्थ की समीक्षा करते हुये हमने 'आर्य' साप्ताहिक में एक लम्बा लेख दिया। सबने हमारे लेख की प्रशंसा की। पं. धर्मदेव जी ने मिलने पर गद्गद होकर आशीर्वाद व बधाई दी। इस ग्रन्थ का प्राक्कथन देशप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् और अंग्रेजी के लेखक डॉ. अविनाशचन्द्र जी वसु ने लिखा था परन्तु इसके थोड़ा समय पश्चात् प्रि. लक्ष्मीचन्द्र जी दीक्षित मिल गये। आपको न तो पं. धर्मदेव जी का ग्रन्थ अच्छा लगा और न ही मेरा लेख। क्या-क्या कहा? यह अब क्या बताऊँ? परन्तु उनको सुनकर मेरे उस ग्रन्थ पर विचार न बदले।

इस लेख से ढाई-तीन वर्ष पूर्व हमने श्री अविनाशचन्द्र जी बोस की पुस्तक *The Call of the Vedas* पर 'आर्य' में बहुत श्रम करके एक लेख लिखा था। हमारा लेख पढ़कर पूज्य उपाध्याय जी ने झट से डॉ. अविनाश चन्द्र बोस कौन है? इस शीर्षक से लेख लिखकर हम पर आशीर्वादों की वर्षा करके यह लिखा कि यह लेख लिखकर राजेन्द्र 'जिज्ञासु' ने बहुत उपकार किया है।

फिर जब कुछ और आगे बढ़ा तो डॉ. सुरेन्द्र जी की मनुस्मृति पर कहीं विचारोत्तेजक भाषण दिया, लेख भी लिखा तो उन्हीं दिनों गाड़ी में फिर श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित मिल गये। आपने मेरे लेख की चर्चा छेड़कर डॉ. सुरेन्द्रजी के ग्रन्थ पर बड़ी निराशाजनक टिप्पणी की। इसके विपरीत एक पौराणिक इसकी प्रशंसा करता नहीं थकता था। ऐसी और भी कई घटनायें हमें याद हैं। आर्यसमाज में कुछ तथाकथित बड़े नेता-विद्वानों की छोटी सोच आर्यसमाज में किसी नये शान्तिप्रकाश का, शरर का, विश्वप्रकाश का निर्माण कर सके, जिनके ठोस कार्यों से आर्यसमाजेत्तर गुणीजन भी उनको नमन कर रहे हैं। उनका सन्मान देखकर ये लोग व्यर्थ में दुःखी हो रहे हैं। हमारी आँखें नये-नये युवकों का निर्माण करने वाले स्वामी श्री स्वतन्त्रानन्द जी महाराज तथा उपाध्याय जी जैसी विभूतियों को खोज रहे हैं। परमात्मा घातक सोचवालों से समाज को बचावे।

ऐतिहासिक कलम से....

## शंकर-मत समीक्षा

( सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास के आधार पर )

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री

परोपकारी पत्रिका अपने 'ऐतिहासिक कलम से' नामक शीर्षक के माध्यम से पाठकों को कुछ ऐसे लेखों से परिचित करा रही है, जो 'आर्योदय' ( साप्ताहिक ) के सत्यार्थप्रकाश विशेषांक से लिये गये हैं। यह विशेषांक दो भागों में छपा था। पूर्वाद्ध के सम्पादक श्री प्रकाशजी थे तथा उत्तरार्ध के सम्पादक पं. भारतेन्द्रनाथजी तथा श्री रघुवीर सिंह शास्त्री थे। यह विशेषांक विक्रम संवत् २०२० में निकाला गया था। यहाँ यह स्मरण रखना जरूरी है कि इस विशेषांक में जो लेख प्रस्तुत किये गये हैं वे पं. भारतेन्द्रनाथ जी ने विद्वानों से आग्रहपूर्वक लिखवाये थे, जो कि पण्डित जी अक्सर किया करते थे। उसी विशेषांक के कुछ चयनित लेख पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

शंकराचार्य ने अपने वेदान्त द्वारा जिस भ्रम की सृष्टि की, उसने बौद्धों के पैर भले ही उखाड़ दिये हों किन्तु सत्य वैदिक धर्म के स्वरूप को विकृत रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत कर सत्य को भुलाने का प्रयास किया। प्रस्तुत लेख में दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री ने शंकर के असत्य मत की आलोचना कर 'सत्य' स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। -सम्पादक

ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने और अमन्तव्यों की विवेचना या समीक्षा के लिए की, जिससे सत्य अर्थों और सिद्धान्त का प्रकाश यथार्थ रूप में हो सके और जिसके अनुसार अनुष्ठान कर प्रत्येक मानव अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए अनायास प्रयासशील हो सके। इस भावना से ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दस समुल्लासों में अपने मन्तव्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और अन्तिम चार समुल्लासों में अमन्तव्य मतों व विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की है। ऐसी समीक्षा सच्चे सिद्धान्तों पर लपेटे हुए मलिन आवरणों को हटाकर उन्हें सामने प्रकाश में लाकर खड़ा कर देती है। ऐसी विवेचना की उपादेयता का सदा से लोककर्ता आचार्यों ने अभिनन्दन किया है।

सत्यार्थप्रकाश के इस समीक्षा भाग के पहले एवं ग्रन्थक्रम के अनुसार ग्यारहवें समुल्लास में उन विचारों व मतों की विवेचना प्रस्तुत की गई है, जिनमें भारतीय आर्यजनता के मूलभूत वैदिक सिद्धान्तों को रूपान्तरित कर दिया गया है, पर उन्हीं को आज मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में माना जा रहा है। मूल सिद्धान्तों में यह विकार सहस्रों वर्षों से धीरे-धीरे होता रहा, और अनजाने में उसका

इतना सात्म्य हो गया कि वास्तविकता को सर्वथा भुला दिया गया अथवा समाज की दृष्टि से उसे सर्वथा ओझल कर दिया गया। ऋषि ने अपनी समाधिजन्य क्रान्तदृष्टि से काल की सीमा को भेदकर यथार्थता का अवलोकन किया और लोक-कल्याण की भावना से जन-मानस तक उसे पहुँचाने के लिए 'सत्यार्थप्रकाश' के रूप में रचनाबद्ध किया। इस प्रकार एकादश समुल्लास में उन सभी मतों का विवेचन है, जो हिन्दू मत अथवा पौराणिक मत के नाम से कहे जाते हैं।

इन्हीं के बीच उन विचारों की भी समीक्षा है, जिनको आचार्य शंकर ने प्रचारित किया और दार्शनिक रूप देकर उनकी दृढ़ता को उपस्थापित किया है। यह प्रसंग एकादश समुल्लास में सत्यार्थप्रकाश [स्थूलाक्षर, स्वामी वेदानन्द तीर्थ संस्करण] के पृष्ठ २४९ से २६० तक में विस्तृत है। इस समस्त प्रसंग को साधारण रूप से दो भागों में विभक्त किया सकता है- १-आचार्य शंकर का व्यक्तित्व, २-आचार्य शंकर का मत और उसकी समीक्षा। सत्यार्थप्रकाश के वर्णन के अनुसार यथाक्रम इन शीर्षकों के नीचे उक्त विषय का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य शंकर और उसका व्यक्तित्व

इस विषय को लेकर सत्यार्थप्रकाश में जो वर्णन किया गया है, उसको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है— १-शंकर का प्रादुर्भाव काल और २- शंकर के विचारों की पृष्ठभूमि। पहला विषय अत्यन्त विवादास्पद है। इस विषय में आधुनिक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विवेचन किया है, पर अभी तक कोई ऐसा निर्णय सामने नहीं आया, जिसमें इस विषय के समस्त प्राचीन लेखों का परस्पर सामञ्जस्य प्रस्फुटित किया गया हो। आधुनिक विद्वानों ने जो विभिन्न विचार इस विषय में प्रस्तुत किये हैं, उनका भी प्राचीन लेखों में कुछ न कुछ आधार मिल जाता है, जिससे किसी भी जिज्ञासु के सन्देह की मात्रा और दृढ़ हो जाती है। इस विषय में ऋषि का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

### आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल

विषय का प्रारम्भ करते हुए ऋषि ने लिखा— “बाईस सौ वर्ष हुये कि एक शङ्कराचार्य द्रविडदेशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे...” ऋषि ने जब यह पंक्ति लिखी, उसे लगभग नब्बे वर्ष (सन् १९६४ में) हो गये हैं। हम स्थूल रूप से इसे एक शताब्दी मान लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ, विक्रम संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि का यह कथन ऋषि की एक अन्य पंक्ति से भी पुष्ट होता है। सत्यार्थप्रकाश [विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद स्थूलाक्षर संस्करण] के पृष्ठ २५६ पंक्ति २७ में लेख है— ‘शङ्कराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ’ यहाँ शङ्कर और विक्रमादित्य के काल का अन्तर स्पष्ट उल्लिखित है। ऋषि के विचार से यह वही विक्रमादित्य राजा है, जिसका संवत् समय २०२० (सन् १९६४ में) चल रहा है।

आचार्य शङ्कर के इस प्रादुर्भाव काल का उल्लेख ऋषि ने किस आधार पर किया है, यह विचारणीय है। यदि ऐसे कोई आधार हैं, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि शङ्कर के प्रादुर्भाव काल का विवेचन करने वाले आधुनिक विद्वानों ने उन आधारों की ओर ध्यान देने की सर्वथा उपेक्षा की है, क्योंकि आधुनिक विद्वानों का

काल विक्रम की आठवीं-नवीं शताब्दी निश्चित करते हैं। इन दोनों कालों में ग्यारह सौ-बारह सौ वर्ष के लगभग का अन्तर है, जो सर्वथा अनुपेक्षणीय है। विचारकोटि से इसको ओझल करना ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन व अन्वेषण की ओर से मुँह मोड़ना होगा। आधुनिक विद्वानों ने जिन आधारों पर अपना मत प्रकट किया है, उनको यहाँ उपस्थित करना और उनकी समीक्षा करना केवल लेख का कलेवर बढ़ाना होगा, यहाँ उसकी उपेक्षा कर दी गई है। ऋषि के लेख का आधार क्या रहा होगा, इस पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

### ऋषि का इतिहास-ज्ञान

प्रायः इस विषय में आधुनिक विचारों से अभिभूत अनेक आर्यविद्वानों को भी यह कहते सुना गया है कि ऋषि कोई इतिहास का पण्डित नहीं था, इस विषय में उसका लेख अन्यथा हो सकता है, यह कोई ऐसी सैद्धान्तिक बात नहीं है, जिसको मानने या न मानने में किसी आवश्यक सिद्धान्त का व्याघात होता हो। ऐसे विचार रखने वालों के प्रति मेरा नम्र निवेदन है, किसी निश्चित की घोषणा करने से पहले उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना अच्छा होता है। समाज में असमीक्ष्यकारी के समान असमीक्ष्यवादी होना भी बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं होता। मैं यह नहीं कहता कि ऋषि इतिहास का पण्डित था या नहीं, पर इस ओर ऋषि की सुरुचि के विषय में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिये। ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में महाभारत काल से लेकर पृथ्वीराज वंश पर्यन्त दिल्ली के राजाओं की वंशावली का उल्लेख इस विषय में ऋषि दयानन्द की सतर्कता एवं सजगता का ज्वलन्त निर्देश करता है।

इस वंशावली के विषय में भी प्रायः लोग सन्दिग्ध बातें करते रहते हैं, जबकि ऋषि ने वंशावली के प्रारम्भ में उन आधारों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जहाँ से इसकी प्रतिलिपि की गई। इसकी पुष्टि में अब एक नया हस्तलेख उपलब्ध हुआ है। सत्यार्थप्रकाश में दी गई वंशावली का आधार ऋषि के लेखानुसार ‘हरिश्चन्द्र चन्द्रिका’ और ‘मोहन चन्द्रिका’ नामक पाक्षिक पत्र हैं, जो नाथद्वारा से उस समय प्रकाशित होते थे। नाथद्वारा उदयपुर राज्य में एक छोटा नगर है, जहाँ वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मन्दिर है। यह

वंशावली विक्रम संवत् १९३९ के मार्गशीर्ष के अंकों में छपी थी। उस पत्र के सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक जो विक्रम संवत् १७८२ का लिखा हुआ था, लेकर उसके आधार पर यह वंशावली प्रकाशित की थी। इससे स्पष्ट है कि सत्यार्थप्रकाश में दी गई राजवंशावली का आधार उदयपुर राज्य से प्राप्त कोई हस्तलेख है।

पर अब इस विषय का एक नया हस्तलेख जो प्राप्त हुआ है, वह पंजाब के पहाड़ी जिला कांगड़ा का है और वहाँ की स्थानीय भाषा में है। पंजाब सरकार के हिन्दी विभाग के निदेशक श्री डॉ. परमानन्द एम. ए. के निर्देशन में शीघ्र ही इस हस्तलेख के प्रकाशित होने की आशा है। इस हस्तलेख का सम्पादन श्री डॉ. गौरीशंकर एम. ए., श्री पं. रघुनन्दन शास्त्री एम. ए. ने किया है, जिनकी जन्मभूमि जिला काँगड़ा है। इस हस्तलेख की सूचना श्री डॉ. परमानन्द ने पंजाब सरकार के मासिक पत्र 'सप्तसिन्धु' में तथा वाराणसी के 'वेदवाणी' में प्रकाशित की। इस विषय में उक्त डॉक्टर महोदय से पत्र-व्यवहार करने पर ज्ञात हुआ कि हस्तलेख शीघ्र ही प्रकाशित होकर जनता के सम्मुख आने को है। इतने अन्तर से बसे दो विभिन्न देशों और विभिन्न भाषाओं में मिले हस्तलेखों की लगभग पूर्ण जैसी समानता उनकी ऐतिहासिक सच्चाई को निस्सन्देह स्पष्ट करती है। इसकी पूर्ण परीक्षा तो हस्तलेख के प्रकाशित होने पर हो हो सकेगी, पर इससे इतना निश्चय है कि सत्यार्थप्रकाश की राजवंशावली कोरी कल्पना नहीं है, इसमें ऐतिहासिक तथ्य निश्चित रूप से निहित हैं। यह सब कहने का हमारा इतना ही अभिप्राय है कि ऋषि दयानन्द इतिहास का पण्डित हो या न हो, पर इतिहास विषयक जो पंक्ति या सन्दर्भ उसने कहीं लिखा है, वह सर्वथा निराधार नहीं।

### शङ्कर काल का आधार

अब हम अपने मुख्य लक्ष्य पर आते हैं कि आचार्य शङ्कर के उक्त प्रादुर्भाव काल का आधार ऋषि के सन्मुख क्या रहा होगा? ऋषि दयानन्द ने संन्यास की दीक्षा उसी परम्परा में ली, जो शङ्कराचार्य और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा आज तक प्रवर्तित है। प्रत्येक संन्यासी दीक्षा के समय और अन्य विशिष्ट अवसरों पर उस गुरु-परम्परा

का ऐसे ही स्मरण करता है, जैसे भारत में शुभ कार्यों के प्रारम्भ में संकल्प पढ़े जाने की प्रथा है। उसमें आद्य शङ्कराचार्य के काल का संकेत तथा पूर्व-गुरुओं की नामावली का उच्चारण किया जाता है। यह परम्परा इतनी अविच्छिन्न है कि इसमें किसी भ्रान्ति की आशंका नहीं की जा सकती, प्रत्येक दण्डी संन्यासी के मुख से जिसने उस परम्परा में संन्यास की दीक्षा ली है, इसको सुना जा सकता है। ऋषि दयानन्द उस परम्परा से पूर्णरूप से परिचित था।

इसके अतिरिक्त आचार्य के मठों की वंशपरम्परा प्रायः मठों में सुरक्षित है। आद्य शङ्कराचार्य ने अपने विचारों के प्रचार-प्रसार और उनका स्थैर्य बनाये रखने के लिये भारत देश की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। उस पीठ पर बैठने वाला प्रत्येक व्यक्ति शङ्कराचार्य कहा जाता है। द्वारिका, शृङ्गेरी, गोवर्द्धन और ज्योतिर्मठ के गुरु-शिष्यों की परम्परा की सूची आद्य शङ्कराचार्य से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से मठों में सुरक्षित हैं। उन सूचियों में प्रत्येक आचार्य के गद्दी पर बैठने के पूरे काल का निर्देश है। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है, कौन आचार्य किस संवत् में गद्दी पर बैठा और कब ब्रह्मलोक लीन हुआ, प्रारम्भ में युधिष्ठिर संवत् का उपयोग किया गया है। द्वारिका मठ के आचार्यों की ऐसी एक सूची 'सरस्वती छापाखाना', स्टेशन रोड, अजीज बिल्डिंग, भावनगर, से प्रकाशित हुई थी, जो मेरे पास सुरक्षित है और 'विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद' से प्रकाशित स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश के २४९ पृष्ठ की टिप्पणी में अविकल रूप से उसे मुद्रित करा दिया है। उसके अनुसार शङ्कराचार्य का प्रादुर्भावकाल ठीक वही निश्चित होता है, जो सत्यार्थप्रकाश में निर्दिष्ट है।

इसके अतिरिक्त अन्य मठों की आचार्य-सूची के आधार पर भी इसकी परीक्षा करना अपेक्षित है। पत्र-व्यवहार और अवसर पाकर एक तीर्थयात्री महात्मा संन्यासी के द्वारा वह सब जानने के लिये मैंने यत्न किया, इस विषय की बहुत-सी सामग्री मेरे पास संकलित है। अवगत हुआ है, हिमालय स्थित ज्योतिर्मठ की आचार्य-परम्परा खण्डित है। अनेक शताब्दियों तक पीठ शून्य पड़ा रहा,

उतने समय कोई आचार्य वहाँ नहीं हुआ। कालान्तर में टिहरी दरबार ने मठ का जीर्णोद्धार करवाया, कतिपय आचार्यों की सूची उपलब्ध हुई है, पूर्ण नहीं है। जगन्नाथपुरी के गोवर्द्धन मठ की सूची प्राप्त हो गई है, पर उसमें आचार्यों के कार्यकाल का निर्देशन नहीं है, दक्षिण के शृंगेरीमठ की सूची प्राप्त नहीं हो सकी, पर पीठ में सुरक्षित इस विषय के लेखों के अनुसार यह ज्ञात हो सका कि शङ्कराचार्य का जन्म २५९३ कलि संवत् में तथा देहावसान २६२५ कलि संवत् में हुआ। द्वारिका के शारदापीठ की आचार्य वंशानु मातृका के अनुसार जिसका अभी ऊपर उल्लेख किया गया है और जिसे स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश की प्रथमोद्भूत पंक्ति पर टिप्पणी में अविकल मुद्रित करा दिया गया है, शङ्कर का जन्मकाल २६३१ युधिष्ठिर संवत् लिखा है, तथा निधनकाल २६६३।

कतिपय आधुनिक लेखकों ने कलि संवत् और युधिष्ठिर संवत् को एक समझकर दोनों मठों के उक्त लेख में भेद बताने का प्रयास किया है, पर यह उन लेखकों की भ्रान्ति है। युधिष्ठिर संवत् महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। महाभारत से ज्ञात है, कि युधिष्ठिर ने ३६ वर्ष तक राज्य किया, तदनन्तर कलि प्रारम्भ होने वाला है, इस भावना से राज्य-त्याग युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ तपस्या के लिये हिमालय चले गये, उसके अनन्तर कलि का प्रारम्भ हुआ और तभी से कलि संवत् गिना गया। दोनों मठों के लेखों में युधिष्ठिर और कलि संवत् का अन्तर ३८ वर्ष है, जो युधिष्ठिर के राज्यकाल तथा राज्य-त्याग एवं कलि आगमन के अन्तराल काल को प्रकट करता है। कभी-कभी एक वर्ष का अन्तर संवत् के गत और चालू रूप में निर्देश करने पर भी हो जाता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि मठों के लेख में कोई अन्तर नहीं है। दोनों लेखों के अनुसार आचार्य का प्रादुर्भाव काल एक ही है।

अब यह देखना चाहिये कि यह काल विक्रम से कितने वर्ष पूर्व आता है। चालू विक्रम संवत् के साथ कलि संवत् ५०६४ चल रहा है। गणना करने पर स्पष्ट होता है कि ऋषि द्वारा कथित आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव काल मठों की सूची में लिखित काल के लगभग समीप है।

जिन लेखकों ने शङ्कर का काल विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी बताया है, इसके साथ मठों के लेखों का बहुत दूर का अन्तर है, लगभग बारह सौ वर्ष से भी अधिक का, जो अत्यन्त चिन्तनीय है।

### शङ्कर का व्यक्तित्व और उसके विचारों की पृष्ठभूमि

मुख्य शीर्षक के नीचे यह दूसरा विभाग आता है, कि आचार्य शङ्कर के जो विचार या सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, उनकी पृष्ठभूमि क्या रही होगी। ऋषि ने इस विषय में लिखा-‘जो जीव ब्रह्म की एकता जगत् मिथ्या शङ्कराचार्य का निजमत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।’ इस लेख से प्रतीत होता है कि ऋषि इस बात को सहन करने के लिये सर्वात्मना तैयार न था कि शङ्कर के नाम से जो सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, ये शङ्कर के सर्वथा निजीमत रहे होंगे। जैनमत के खण्डन की भावना से भी ऐसा मत स्वीकार कर लेने की सम्भावना की जा सकती है। जहाँ अनेक अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों के लिये ऋषि ने ऐसे पदों का प्रयोग कर दिया है, जो कठोर प्रतीत होते हैं, चाहे उनमें वास्तविकता ही अधिक हो, यहाँ शङ्कराचार्य के विषय में ऋषि के विचार कोमल और आत्मीय भावना को ध्वनित करते हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य के व्यक्तित्व के प्रति ऋषि आस्थावान् रहा हो। ‘आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव काल’ उपशीर्षक के नीचे जो पंक्ति पहले सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत की गई है, उसमें भी इन भावनाओं की झलक प्रतीत होती है।

वहाँ शब्द हैं- ‘शङ्कराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर’ इस पंक्ति में शङ्कर के द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन और शङ्कर के सर्वशास्त्रगत वैदुष्य को ऋषि ने प्रकट किया है। फिर आगे के सन्दर्भों में शङ्कराचार्य द्वारा ‘वेद मत की स्थापना’, ‘वेदमत का प्रचार’ आदि पदों का निर्देश किया है। शङ्कराचार्य के व्यक्तित्व के विषय में उक्त भावनाओं के पोषक अगले सन्दर्भों पर ध्यान दीजिये, जो सत्यार्थप्रकाश के इस प्रसंग में आये हैं-

१. शङ्कराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी।

२. वहाँ उस समय सुधन्वा राजा था जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ [उज्जैन नगरी में] जाकर वेद का उपदेश करने लगे।

३. जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौन सा सत्य और कौन सा असत्य है, जब शङ्कराचार्य की यह बात सुनी, बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ करा के सत्यासत्य का निर्णय अवश्य करेंगे।

४. उसमें शंकराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था।

५. शंकराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन...था।

६. जब वेदमत का स्थापन हो चुका और विद्या-प्रचार करने का विचार करते ही थे...अवसर पाकर शङ्कराचार्य को ऐसी विषयवस्तु खिलाई...छह महीने के भीतर शरीर छूट गया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है, शङ्कराचार्य ने अपने जीवन में जो कार्य किया ऋषि ने उसे जैनमत के प्रतिरोध में वेदमत का प्रचार और वेदमत की स्थापना के रूप में स्वीकार किया है। इससे ऋषि के विचारों में शङ्कर के निजी व्यक्तित्व और उसके प्रचारित सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि की वास्तविकता का पता लगता है। शङ्कराचार्य और उनके कार्य के प्रति उक्त भावनाओं के रहते भी ऋषि ने उन मन्तव्यों को सर्वथा अवैदिक माना है, जो शङ्कराचार्य के नाम से आज सबके सन्मुख हैं। उनका प्रत्याख्यान करने में ऋषि ने कोई कसर नहीं छोड़ी। अब संक्षेप में उसका विवेचन पढ़िये।

### आचार्य शङ्कर का मत और उसकी समीक्षा

शांकरमत- आचार्य शङ्कर के मन्तव्यों को समझने और उनकी विवेचना के लिये उन्हें कतिपय उपशीर्षकों में बाँट लेना आवश्यक है। मुख्यरूप से निम्नलिखित शीर्षकों में आचार्य के प्रायः सभी विचार आ जाते हैं।

१. वास्तविक सत्ता एकमात्र ब्रह्म है।

२. प्रतीयमान जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।

३. जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं।

४. अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है।

५. विवर्तवाद।

६. स्वप्न, रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्वनगर, इन्द्रजाल आदि दृष्टान्त।

इन शीर्षकों में प्रायः वे सभी विचार आ जाते हैं, जिनकी समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के इस प्रसंग में की गई है। यथाक्रम इस विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

### १. वास्तविक सत्ता एकमात्र ब्रह्म है

इस तथ्य को वेद और समस्त वैदिक साहित्य एवं आर्य-परम्परा में स्वीकार किया गया है, विश्व का रचयिता ब्रह्म है। वेदों और अन्य शास्त्रों में उस एक तत्त्व का प्रतीक नामों से वर्णन हुआ है। यह अनेक नाम और अनेक रूपों में वर्णन होने पर भी वह सत्ता एकमात्र है। ब्रह्म या परमेश्वर के रूप में वह दो सत्ता नहीं मानी जाती। वह सत्ता चेतन है और आनन्दरूप है। ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ऐसी एकमात्र सत्ता से किसी को नकार नहीं है। पर उस एकमात्र सत्ता के स्वीकार का यह अभिप्राय नहीं, कि उसके अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। पर आचार्य शङ्कर ने यही घोषणा की है कि उससे अतिरिक्त अन्य सत्ता की वास्तविकता नहीं है। अन्य जो कुछ प्रतीत होता है वह सब आभासमात्र है, इसको प्रमाणित करने के लिये कतिपय उपनिषद् वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं। उसमें एक वाक्य है- 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा. ३/१४/१] शांकर विचार को स्पष्ट करने के लिये इस वाक्य के प्रायः प्रथम भाग का अधिक प्रयोग किया जाता है। उसका अर्थ करते हैं-निश्चित ही यह जो कुछ है-दृश्यादृश्य जगत्-सब ब्रह्म है। यदि इस वाक्यांश का वस्तुतः ऐसा ही अर्थ है, तो ब्रह्म की उपासना का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त हुआ उपनिषत्कार दृश्यादृश्य जगत् की उपासना में ही ब्रह्म-जिज्ञासु को प्रवृत्त कर रहा है, यह अभिप्राय इसका मानना होगा, क्योंकि जब यह जगत् ब्रह्म ही है तो जगत् की उपासना ही ब्रह्म की उपासना होगी, जागतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करना और उन्हें भोगना ही उसकी उपासना है। ऐसा मानने पर यह उपदेश वास्तविकता से दूर सर्वथा अनर्थरूप होगा। फलतः इस



वाक्यांश का इतना भाव प्रकट कर उक्त विचार को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उपनिषद् के पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये- 'सर्वं खल्विदं तज्जलान् इति अवबुध्य शान्तः सन् ब्रह्म उपासीत।' यह सब जगत् तज्ज, तल्ल और तदन् है, ऐसा समझकर शान्त हो जिज्ञासु ब्रह्म की उपासना करे। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है, वही प्रलय करने वाला और वही इसका धारण करने वाला है। इसलिये इस जगत् में न फँसकर जो इसे बनाता, बिगाड़ता और रक्षा करता है, उसी की उपासना करनी चाहिये। वस्तुतः वाक्य में 'ब्रह्म' पद 'उपासीत' क्रिया का कर्म है। यह इस बात पर बल दिया गया है, कि हे उपासक जीव! तू इस संसार में जो फँस रहा है और इसी को सब कुछ समझता है, यह तेरी नादानी है। अरे ! इसको भी जो बनाने-बिगाड़ने का सामर्थ्य रखता है और जिसकी शक्ति से इस समय यह संचालित है, उसकी उपासना कर, वह ब्रह्म है, यह जगत् तो विकारमात्र है, यह समझकर शान्तिपूर्वक उस ब्रह्म की उपासना करना योग्य है। फलतः इस वाक्य द्वारा जगत् को ब्रह्म नहीं बताया गया, जगत् एक विकारमात्र परिणामी तत्त्व है, उससे वितृष्ण होकर अपरिणामी जगत् के अधिष्ठाता ब्रह्म की उपासना करने का यहाँ उपदेश है। आगे उपनिषद् में क्रतुमय-कर्मपरायण जीवात्मा के लिये उस ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसका सामञ्जस्य जगत् को ब्रह्म मानकर सर्वथा असम्भव है। फलतः ब्रह्म की एकमात्र सत्ता होने पर भी यह कहना केवल दुस्साहस है कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं।

## २. प्रतीयमान जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है

प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतना का अनुभव होता है। यह चेतना अथवा चेतनतत्त्व 'जीवात्मा' है, ऐसा विचारकों ने माना है। यह चेतना क्योंकि प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अनुभूत होती है और शरीरों की कोई सीमा, कोई अन्त संख्या की दृष्टि से नहीं है, इसलिये यह चेतनतत्त्व भी संख्या की दृष्टि से अनन्त है, ऐसा साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने स्वीकार किया है। इस विषय में आचार्य शङ्कर का कहना है कि चेतनतत्त्व केवल एक

ब्रह्म है, उससे अतिरिक्त चेतनतत्त्व अन्य कोई नहीं है। विभिन्न शरीरों में जो चेतन प्रतीत होता है और जिसको जीवात्मा कहा जाता है, वह अन्तःकरण उपाधि से उपहित ब्रह्म ही है। यह उपाधि जब तक रहती है, पृथक् जीव नाम से इस चेतना का आभास होता है। आत्मसाक्षात्कार अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उपाधि नष्ट हो जाती है, चेतनतत्त्व अपने ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है।

विचारणीय है, जब एकमात्र ब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं, तो यह उपाधि कहाँ से आ जाती है? तथा शुद्ध ब्रह्म को इस उपाधि ने कब उपहित किया? और क्यों? इस क्यों का समाधान तो शाङ्कर मत में कोई नहीं है, केवल लीलावश ऐसा होता है, यह कह दिया जाता है, जो सच्चाई से कन्नी काट जाने के प्रयास के समान है। 'कब' का उत्तर दिया जाता है कि यह अनादि है। शांकर मत में यह भी एक दुर्बल पहलू है। आचार्य और उसके अनुयायियों ने इसके समाधान के लिये छह पदार्थ अनादि माने हैं। उसके लिये सम्प्रदाय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं-

जीवेशौ च विशुद्धाचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।

अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।

कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

हम छह पदार्थ अनादि मानते हैं- १. जीव २. ईश्वर, ३. विशुद्ध चेतन ब्रह्म, ४. जीव ईश्वर का भेद, ५. अविद्या, अज्ञान, माया, ६. अविद्या और शुद्धचेतन ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध। इनमें शुद्ध ब्रह्म ही उस समय जीव कहा जाता है, जब वह कार्य (उत्पन्न अन्तःकरण) उपाधि से उपहित होता है; तथा उस समय ईश्वर कहा जाता है जब कारण (अविद्या, माया) उपाधि से उपहित होता है। जब ये उपाधि नहीं रहतीं तब शुद्धचेतन ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है। छह अनादि पदार्थों में शुद्धचेतन ब्रह्म अनादि अनन्त है, शेष पाँच अनादि सान्त हैं।

इस मान्यता में अनेक आपत्तियाँ हैं, और बहुत कुछ विचारणीय है, पर अतिसंक्षेप से कतिपय बातें यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं-

क- सबसे प्रथम जीव के विषय में विवेचन करना है। ब्रह्म को उस समय जीव बताया गया, जब कार्य उपाधि

से उपहित होता है। कार्य का अर्थ है-उत्पन्न होने वाला तत्त्व। जो उत्पन्न होने वाला है, वह अनादि कैसे? यदि वह अनादि नहीं, तो जीव अनादि कैसे? कार्य भी हो और अनादि भी हो, यह परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। इस रूप में जीव की कल्पना सर्वथा असंगत है, इसलिये जीव तथा ब्रह्म को एक नहीं कहा जा सकता।

**ख-** कारण-उपाधि अविद्या अथवा माया है। इस अविद्या या माया के स्वरूप का निर्वचन शांकर मत में नहीं किया जा सका, इसलिये इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, पर फिर भी यह कारण तत्त्व है। यद्यपि शांकर मत में यह कहा जाता है कि अविद्या का ब्रह्म से भेद अथवा अभेद आदि का कथन नहीं किया जा सकता, पर वस्तुतः यह है-दुराग्रहमात्र। जब अविद्या को अनिर्वचनीय मान लिया गया, तो निश्चित है कि वह ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म कभी अनिर्वचनीय नहीं है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसी आधार पर उसका निर्वचन किया जाता है। अविद्या या माया शांकर मत से कभी निर्वचनीय नहीं। तब इन दोनों का भेद स्पष्ट है। दोनों का अपना अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में शांकर मत की यह मान्यता भी असंगत हो जाती है कि एकमात्र सत्ता ब्रह्म की है, अन्य कोई सत्ता नहीं।

कहा जा सकता है कि अविद्या अथवा माया का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, यह परिवर्तनशील अदलती-बदलती रहती है, जिस सत्ता की तीनों कालों में बाधा न हो, सदा अपने रूप में अवस्थित रहे, वही यथार्थ सत्ता है, वह केवल ब्रह्म है।

शांकर-मत का ऐसा कथन दोनों प्रकार से चिन्तनीय है। अविद्या अथवा माया का अस्तित्व भी त्रिकालाबाध्य है। अविद्या कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती। परिवर्तन अथवा परिणाम तो उसका स्वरूप ही है, यदि अनिर्वचनीय कहा जाय, तो वह भी उसका स्वरूप है। वह तीनों कालों में कभी अपने ऐसे स्वरूप का परित्याग नहीं करती। दूसरे प्रकार से यह कथन इस रूप में असंगत है कि शांकर मत में ब्रह्म का परिणाम जगत् माना गया है, तब ब्रह्म भी अविद्या के समान परिणामी अथवा परिवर्तनशील क्यों न माना जायेगा। ब्रह्म को उपादान मानकर मुँह से भले ही यह कहा जाता रहे कि उसमें किसी प्रकार का परिणाम

नहीं होता पर ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं कि उसे उपादान भी माना जाय और अपरिणामी भी।

फिर अविद्या को अनादि सान्त माना गया। जगत् का कारण होते हुए यह सान्त कैसे है? यह बात शांकर मत में सर्वथा स्पष्ट नहीं है। कहा जाता है कि ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है, ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। यद्यपि इस कथन में-ब्रह्म का ज्ञान किसको होता है? यदि ब्रह्म को, तो क्या ब्रह्म अभी तक अज्ञानी था? यदि था, तो सर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञानी कैसे हुआ? माया के सम्पर्क से कहा जाय, तो अचेतन माया सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को कैसे अभिभूत कर लेती है? इत्यादि विकल्पों का कोई सन्तोषजनक समाधान शांकर मत में नहीं है, फिर भी यह मानकर आगे विचार करते हैं कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानी मुक्त हो जाता है और माया का अन्त, इसलिये माया या अविद्या को सान्त माना गया है, पर इस विषय में यह सोचने की बात है कि यह सृष्टिक्रम अनादि काल से चला आता है, इस काल में अनेकानेक ज्ञानी मुक्त हुए होंगे, परन्तु अविद्या का पसारा उसी तरह चालू है, इसमें कोई अन्तर नहीं, संसारचक्र बराबर चला आ रहा है, जो शांकरमत में अविद्या के कारण है। अनादिकाल से आज तक यह अपनी स्थिति में बराबर विद्यमान है, ऐसे ही अनन्तकाल तक विद्यमान रह सकता है, इसमें कोई बाधा आती नहीं दिखती, तब अविद्या को सान्त कहना असंगत है।

कहा जाता है, कि अविद्या के दो भेद हैं-मूला अविद्या और तूला अविद्या। तूला अविद्या प्रतिव्यक्ति नियत है, व्यक्ति का मोक्ष होने पर उसका नाश हो जाता है, मूला अविद्या के कारण संसारचक्र चालू रहता है। संसार का क्रम क्योंकि सदा बना रहता है, इसलिये मूला अविद्या को अनादि अनन्त मानना ही चाहिये। अगत्या ऐसा मानने पर केवल ब्रह्म का अनादि अनन्त अस्तित्व न रहकर अविद्या का भी हो जाता है। वस्तुतः शांकरमत में जगत् के उपादान कारण प्रकृति को ही 'अविद्या' नाम दिया गया है और उसको जगत् की उपादान कारणता से हटाया नहीं जा सका। ब्रह्म को उपादान कहना तो दुराग्रहमात्र है, यह आगे 'विवर्तवाद' के प्रसंग में स्पष्ट होगा। इस प्रकार छह पदार्थों के अनादि होने का शांकरवाद अत्यन्त शिथिल है।

## अध्यास का विवेचन

शांकरमत के आचार्यों का कहना है कि जीव एवं संसार आदि की प्रतीति अध्यास अथवा अध्यारोप के कारण होती है। ब्रह्म में जीव आदि का अध्यारोप होने से जीवादि का अस्तित्व भासता है, वास्तविक सत्ता इनकी कुछ नहीं है। अध्यास का स्वरूप बताया—‘वस्तुनि अवस्त्वारोपणमध्यासः।’ वस्तु में जो अवस्तु का आरोप किया जाय, वही अध्यास है। जैसे रज्जु में सर्प का आरोप होता है। रज्जु वस्तुभूत है, सर्प वहाँ नहीं है, पर प्रतीत होता है, ऐसी ही प्रतीति जीव आदि की है, जिस प्रकार रज्जु आधार का टेढ़ा-मेढ़ा पड़े रहना अन्धकार सा होने पर सर्प प्रतीति का प्रतीक है, इसी प्रकार ब्रह्म आधार में अन्तःकरण एवं माया का सम्बन्ध जीव एवं संसार की प्रतीति का प्रयोजक होता है, वस्तुतः इनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

विचारणीय है कि अध्यास के लक्षण में जो ‘वस्तु में अवस्तु का आरोप’ कहा गया, उसका क्या तात्पर्य है। इसके अनुसार रज्जु वस्तु है और सर्प अवस्तु है। सोचिये, क्या सर्प सर्वथा अवस्तु है, या रज्जु रूप से अवस्तु है? आप यह निश्चित रूप से समझ सकेंगे कि सर्प सर्वथा अवस्तु नहीं है। यदि ऐसा सत्य होता, तो उससे भय आदि का होना और उस रूप में प्रतीति होना भी सर्वथा असम्भव होता। सर्प का सच्चा अस्तित्व विद्यमान है, उससे होने वाले कष्ट या हानि का भी ज्ञान है, तब उसे सर्वथा अवस्तु मानना कैसे सच व सम्भव हो सकता है। यदि रज्जु रूप से सर्प अवस्तु है, तो सर्प रूप से सर्प का वस्तु होना स्वीकार कर लिया। एक वस्तु के रूप में अन्य वस्तुओं का न होना उनके अवस्तु माने जाने का साधक नहीं है, अन्यथा प्रत्येक वस्तु अवस्तु कही जा सकेगी। तब ब्रह्म भी अवस्तु होगा, क्योंकि माया अथवा जड़रूप से उसका अवस्तु होना माना जा सकेगा।

और सोचिये, रज्जु में सर्प की ही प्रतीति क्यों होती है? जैसा रज्जुरूप से सर्प अवस्तु है, ऐसे घड़ा, घोड़ा, और भैंस भी अवस्तु हैं, उनकी प्रतीति वहाँ क्यों नहीं होती? कहना होगा, कोई ऐसे समान धर्म रज्जु में हैं, जो सर्प में प्रथम देखे गये हैं, वे यहाँ सर्प की प्रतीति कराने में सहायक

होते हैं। अन्य घोड़ा, भैंस आदि की नहीं। यह व्यवस्था निश्चय कराती है कि रज्जु और सर्प दोनों वस्तुभूत हैं, इनमें अवस्तु कोई नहीं है। फिर जीव तथा ब्रह्म के विषय में ऐसी समानता को निभाने वाला कौन है? अन्तःकरण दोनों के बीच में इस कड़ी का जोड़ने वाला कहा जा सकता है। अन्तःकरण के विषय में छह अनादि पदार्थों के विवेचन के अन्तर्गत कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार कड़ी जोड़ना जीव की स्वतन्त्र सत्ता को ही सिद्ध करता है। फिर अन्तःकरण का सम्बन्ध ब्रह्म से कैसा? यह जीवात्मा का अपना साधन है। ब्रह्म सर्वव्यापक प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है, वह किसी ऐसे सम्बन्ध से इस प्रकार प्रभावित नहीं होता कि उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो जाय, या वह स्वयं अन्यथा प्रतीत होने लगे। हम विश्व के रूप में उसकी विभूति, कृपा एवं अनुपम, अनुग्रह आदि का बखान अपनी भावनाओं के अनुसार कर सकते हैं और यह बखान भी, बखान करने वाले को तथा विश्व को उससे पृथक् व भिन्न सिद्ध करने में सहायक होता है। यदि सच देखा जाय, तो ब्रह्म में जीव का अध्यास नहीं, यह कुछ अज्ञानियों ने जीव में ब्रह्म का अध्यास कर लिया है और अपने आपको ब्रह्म कहते फिरते हैं। क्या यह ब्रह्म का मखौल उड़ाना नहीं है? समझना चाहिये, कि ब्रह्म और जीव की सत्ता एक नहीं है। दोनों अतिरिक्त तत्त्व हैं, समस्त शास्त्रों में इन दोनों का साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा किया गया वर्णन इनके भिन्न होने में सबल प्रमाण है।

ग- अनादि जीव की स्वतन्त्र वस्तुभूत सत्ता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि उसका अन्त कभी नहीं हो सकता। मोक्ष होने पर भी जीव अपने रूप में बना रहता है, वह स्वरूप को छोड़कर ब्रह्म नहीं बन जाता, अथवा ब्रह्मरूप नहीं हो जाता। वेदान्त सूत्रों (४/४) में इस स्थिति को स्पष्ट किया है। आचार्य शङ्कर ने भी उसका अन्यथा प्रतिपादन नहीं किया। अतः जीव को सान्त कहना अप्रामाणिक है। ईश्वर की स्थिति शुद्धचित् अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कोई नहीं। शुद्धचित् का ही माया अथवा अविद्या से अनादि सम्बन्ध बताया गया है, यह सम्बन्ध इस सच्चाई को प्रकट करता है कि ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को

परिणत करता है। जगत् के सर्ग स्थिति-प्रलय में व्याप्त ब्रह्म को ईश्वर नाम से कहा गया है। जगत् विषयक यह व्यापार अनादि अनन्त है, ऐसी स्थिति में न तो ब्रह्म और माया [अविद्या=प्रकृति] के सम्बन्ध को सान्त माना जा सकता है, और न ब्रह्म तथा ईश्वर को अलग-अलग। इस प्रकार अनादि पदार्थ केवल तीन रह जाते हैं-जीव, ब्रह्म तथा अविद्या। न केवल ये अनादि हैं, प्रत्युत अनन्त भी हैं।

**३- जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं**

सोचना चाहिये, यथार्थ सत्ता किसे कहा जाता है? बताया गया, जो तत्त्व त्रिकालाबाध्य है, उसकी सत्ता यथार्थ है, सत्य है। तीनों कालों में जिसकी बाधा न हो, एकरूप रहे, वही सत्ता यथार्थ है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है, जगत् की बाधा होती है, यह परिणामी-परिवर्तनशील है, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर इसकी बाधा हो जाती है। साक्षात्कर्ता के लिये यह नहीं के बराबर है, अतः बाधित है।

विचार कीजिये, जगत् यथार्थ सत्ता की परिभाषा में कैसे नहीं आता। जगत् वस्तुतः कार्यतत्त्व है, अपने किसी मूल कारण से इस रूप में आया है। कार्यवस्तु अवश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील रहती है। यह उसका स्वरूप है, यह स्थिति या यह स्वरूप इसका कभी छूटता नहीं। एक वस्तु परिणामी है, एक अपरिणामी है, दोनों की अपनी स्थिति है, दोनों अपने स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं, तब उन दोनों की सत्ता को यथार्थ क्यों नहीं माना जाय। उनमें से किसी एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कहना अप्रामाणिक है, जबकि समान रूप से दोनों स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं। इसलिये केवल परिणामी होने से जगत् मिथ्या है, यह कथन मिथ्या है।

यह सबको अभिमत है कि जगत् कार्य है, अपने किसी मूलकारण से इस रूप में परिणत हुआ है। कारण यद्यपि अनेक प्रकार के माने गये हैं, यहाँ केवल उपादान कारण से अभिप्राय है। कहा जाता है कि जगत् और जगत् का कारण इसलिये मिथ्या है कि वह बाधित हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना है, तो उसी के नियम के अनुसार अब ब्रह्म को मिथ्या जानना चाहिये, क्योंकि जगत् और जगत् का कारण मिथ्या

है। ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानकर उसे परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है? कहा गया, कि यह सब माया अथवा अविद्या का प्रभाव है, उसी के द्वारा ब्रह्म इस रूप में आभासित होता है, अब सोचिये, जो वस्तु ब्रह्म को भी अन्यथा आभासित कर देती है, वह मिथ्या कैसे कही जा सकती है? वह तो सत्य से भी सत्य होनी चाहिये, जो 'सत्य' को भी प्रभावित कर देती है। फलतः जगत् की यथार्थता को चुनौती देना सर्वथा अयथार्थ है, जगत् की सत्ता ही तो ब्रह्म के अस्तित्व को प्रकट करती है। दोनों प्रकार की सत्ता अपने रूप में यथार्थ हैं, यही सत्य है।

कहा जाता है, कि जगत् अनिर्वचनीय माया का परिणाम है, ब्रह्म का नहीं। ब्रह्म का तो यह विवर्त है, इसलिये जगत् के परिणामी होने से ब्रह्म पर उसका कोई प्रभाव नहीं, अनिर्वचनीय माया एवं उसका परिणाम जगत् मिथ्या रहे, ब्रह्म की सत्ता उससे अछूती रहेगी। उसे सत्य मानने में कोई बाधा नहीं। माया मिथ्या कैसे है? आइये, इस पर थोड़ा विचार करें।

#### ४. अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है

माया को शांकर विचार से सत् या असत् अथवा सत् असत् उभयरूप और अनुभयरूप कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका इन विकल्पों में से किसी रूप में कथन या निर्वचन किया जाना अशक्य है, इसलिए उसका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है। अब प्रश्न होता है, उसकी स्थिति क्या है? क्या वह कोई स्वतन्त्र तत्त्व है? यदि ऐसा माना जाय, तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र तत्त्व को स्वीकार किया जाता है। इसलिये माना गया कि अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है। यदि शक्ति और शक्तिमान् के सम्बन्ध पर विवेचन किया जाय, तो बहस लम्बी हो जाती है, फिर भी इतना समझना आवश्यक है कि माया शक्ति को ब्रह्म से भिन्न माना जाय, तो द्वैत की आपत्ति होती है, यदि ब्रह्म का स्वरूप ही इसे माना जाय, तो भी सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है और माया अनिर्वचनीय है, इन स्थितियों को एक नहीं कहा जा सकता। शांकरमत के आचार्यों ने यह ठीक किया है कि उन्होंने माया को अनिर्वचनीय माना, उन्होंने इसे जिस रूप में प्रस्तुत किया

है, उसका उपपादन सरल नहीं, इसलिये अपने ही वाग्जाल में से अपने आपको को सुरक्षित बचाने के लिये उन्होंने यह सीधा रास्ता अपना लिया है कि उसे अनिर्वचनीय मान लिया जाय। यह एक बड़ी आश्चर्य की बात है, कि ब्रह्म को तो इन्होंने बड़ी आसानी से पहचान लिया, पर उसकी चेरी माया हाथ न आई, वह इन्हें जुल देती रही।

ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया उसका स्वरूप नहीं है, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है। बाह्य साधन भी किसी के सामर्थ्य या शक्ति के रूप में व्यवहृत होता है। राजा की बलिष्ठ सेना, अतुल सम्पत्ति, प्रजा की अनुकूलता, सन्तान की पितृभक्ति राजा की शक्ति है। इसको राजा का अभिन्न रूप नहीं कहा जा सकता। परमेश्वर द्वारा जगत् बनाये जाने का साधन माया अथवा प्रकृति है। ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को परिणत करता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति कही जा सकती है। परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् माने जाने का केवल इतना तात्पर्य है कि माया से जगत्परिणति में निर्माता रूप से उसे अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। अनन्त विश्व का निर्माण और संचालन उसकी सर्वशक्तिमत्ता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। ब्रह्म से भिन्न माया को अनिर्वचनीय मानकर भी उसे मिथ्या या तुच्छ नहीं कहा जा सकता। जैसे पहले कहा गया-सत्य वह वस्तु है जो सदा एकरूप रहे, अपने उस रूप का कभी परित्याग न करे। माया ऐसा ही तत्त्व है, वह अपने अनिर्वचनीय रूप का कभी परित्याग नहीं करती। वह चाहे सत् है असत् है उभयरूप या अनुभयरूप है अथवा इससे विपरीत है, जैसी भी है, वह सदा वैसी ही रहती है, उस स्वरूप को कभी छोड़ती नहीं, तब वह भी ब्रह्म की तरह सत्य क्यों नहीं? फलतः माया जगन्निर्माण के लिए साधन के रूप में ब्रह्म की शक्ति है। इस स्थिति का अपलाप करने में आचार्य शङ्कर को भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। अनथक प्रयास करने पर भी आचार्य ब्रह्म से माया का पीछा नहीं छोड़ा सका, यह कैसा अद्वैत?

#### ५. विवर्तवाद

शांकरमत के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया के वर्णन में 'परिणाम' और 'विवर्त' इन दो पदों का प्रयोग किया जाता है। कारण के समान विकार 'परिणाम' और विषम-विकार

'विवर्त' कहा जाता है। यह जगत् अशुद्ध, अचेतन, परिणामी, अनिर्वचनीय अथवा त्रिगुणात्मक माया का परिणाम है; क्योंकि माया के अशुद्धि आदि धर्म इसमें भी समानरूप से विद्यमान हैं, परन्तु यही जगत् शुद्ध, चेतन, अपरिणामी, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का विवर्त है, क्योंकि उसके धर्म दिखाई नहीं देते।

यह वाद केवल इस प्रयोजन के लिए खड़ा किया गया है कि जगत् के अनुपादान भी ब्रह्म को बलात् उपादान कारण कहा जा सके। जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात् विषम विकार है, इसका स्पष्ट अर्थ यही है, कि वह जगत् का उपादान कारण नहीं है। कुम्भकार का विषम विकार घट को, शिल्पी का भवन को, तन्तुवाय का वस्त्र को जैसे कहा जा सकता है, वैसे ही ब्रह्म का जगत् विकार है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कार्य के निमित्त कारण को उपादान पद देने के लिए यह प्रयास है। घट आदि के कारण कुम्भकार आदि हैं, इससे किसी को नकार नहीं है। पर यह निश्चित है, कि घट आदि के जैसे कारण मृत्तिका आदि हैं, वैसे कुम्भकार आदि नहीं हैं। इसलिए उनको [मृत्तिका और कुम्भकार को] कारणता के एक वर्ग में अथवा एक स्तर पर नहीं रखा जा सकता। इनको आचार्य भी एक स्तर पर नहीं ला सका, उनकी विभिन्न स्थिति के लिए सम-विषम विकार का भेद कहना पड़ा। फिर भी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहते रहना दुराग्रह मात्र ही है। विवर्त की दीवार भी खिसकती नजर आई, उक्त मान्यता में कुछ सहारा न दे सकी।

#### ६. स्वप्न, रज्जु में सर्प आदि दृष्टान्त

कतिपय ऐसे दृष्टान्त छाँटे गये हैं, जिनका उपयोग शांकर मत की पुष्टि के लिए किया जाता है। ये सब भ्रम स्थल हैं। इनमें जो प्रतीति होती है, उनको मिथ्या अथवा कल्पनामूलक कहा जाता है। लोक-व्यवहार में जो तथाकथित सत्य प्रतीति हैं, उनके साथ भ्रमस्थल-प्रतीतियों का मेल नहीं होता। इसलिये इनके मुकाबले में उन्हें मिथ्या कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान की अवस्था में सच्चा देखने वाला लोक व्यवहार भी मिथ्या प्रतीत होता है। इन आधारों पर संसार का मिथ्यात्व प्रकट किया जाता है। ऐसे दृष्टान्तों में एक 'स्वप्न' है। स्वप्न में जो प्रतीति होती है,

उनका सर्वात्मना मेल जाग्रत के साथ नहीं होता। यद्यपि कुछ-कुछ जाग्रत अवस्था की प्रतीतियों के समान स्वप्न में प्रतीति होती हैं पर वहाँ कोई क्रम, कोई व्यवस्था जाग्रत के समान किसी कार्य के फलाफल का साम्य नहीं रहता। जाग्रत में आप हाथी पर कभी सवार नहीं हुए, पर स्वप्न में ऐसा प्रतीत हो जाता है। आप पानी में कभी डूबे नहीं, स्वप्न में यह दीखता है और पर्याप्त समय तक। जाग्रत में इसका परिणाम निश्चित मृत्यु है। स्वप्न में कुछ नहीं। देह के अन्दर ही नदी-नाले, पहाड़, विशाल नगर, सड़कें, मैदान प्रतीत होते हैं, ऐसी स्थिति में इन प्रतीतियों को सत्य कैसे माना जाय? यह सब केवल मन की कल्पना का परिणाम है। इसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प का परिणाम जगत् है, वह भी स्वप्न के समान मिथ्या माना जाना चाहिये।

दूसरे विचारकों ने स्वप्न की स्थिति को अन्य रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, कि जाग्रत अवस्था में जो अनुभव किया जाता है, स्वप्न में वही स्मृति रूप में उभर आता है, पर निद्रा आदि दोषों के कारण उसमें व्यवस्था व क्रमिकता आदि की प्रतीति नहीं हो पाती। बौद्धों के साथ विचार में इस विषय की उनकी युक्तियों से तंग आकर आचार्य शङ्कर ने स्वयं एक स्थल [ब्रह्म सूत्र २/२/२९] पर स्वप्न को स्मृति मानकर उनसे अपना पीछा छुड़ाया है। विचारकों ने इस तथ्य का निश्चय किया है, कि स्वप्नद्रष्टा को जाग्रत में अनुभूत पदार्थों का ही स्वप्न में प्रत्यय होता है, इसलिए यह प्रत्यय स्मृति से अतिरिक्त अन्य नहीं समझना चाहिये। यही कारण है कि जन्मान्ध व्यक्ति को कभी देखने का स्वप्न नहीं आता, यदि स्वप्न को स्मृति माना जाता है—जो मानना प्रामाणिक है—तो यह दृष्टान्त शांकरमत का पोषक नहीं रहता। कारण यह है, कि स्मृति सदा अनुभव पर आश्रित रहती है। स्वप्न के समान मिथ्या जगत् के लिए अनुभव स्थानीय सत्य जगत् का मानना तब आवश्यक होगा। उस अवस्था में अद्वैत सिद्धान्त अपकृत हो जाता है।

दूसरा दृष्टान्त 'रज्जु-सर्प' का है। इस विषय में पहले निर्देश कर दिया गया है। यदि सच्चे सर्प का प्रत्यय पहले न हो, तो रज्जु में सर्प की प्रतीति असम्भव है। यदि रज्जु में सर्प के समान ब्रह्म में जगत् का अध्यास है तो प्रथम

सच्चे जगत् का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है, अन्यथा दृष्टान्त की समता को तिलाञ्जलि देनी होगी और ऐसे दृष्टान्त को प्रस्तुत करना व्यर्थ होगा। माया [जादूगरी], गन्धर्वनगर, मृगतृष्णिका आदि सभी दृष्टान्तों में यही स्थिति है। पहले सच्चे रूप में अनुभूत वस्तु का ही इन स्थलों में प्रत्यय होता है। ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता, जिसके विषय में प्रत्येता को प्रथम जानकारी न रही हो। इसलिये अद्वैत की सिद्धि में ये कारगर नहीं कहे जा सकते।

### ब्रह्म सूत्रों में ब्रह्म-जीव भेद का निरूपण

वेदान्त दर्शन में अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनके द्वारा ब्रह्म और जीव के भेद का प्रतिपादन किया गया है, जबकि कहा यह जाता है, कि वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादन करता है। यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, कि ऐसे सूत्रों का अर्थ आचार्य शङ्कर ने भी भेदपरक ही किया है। साम्प्रदायिक विद्वानों का कहना है, कि आचार्य का तात्पर्य व्यवहार दशा में भेद का निर्देश करना है, जीव के मुक्त हो जाने पर वह स्थिति नहीं रहती, उस परमार्थ अवस्था में जीव-ब्रह्म की एकता निःसन्दिग्ध है। पर ब्रह्म सूत्रों के अनुसार ही आचार्य शङ्कर ने स्वयं इस बात को नहीं माना है। जीवात्मा मुक्त हो जाने पर भी जगद्रचना आदि व्यापार में कभी ब्रह्म के स्तर पर नहीं आता, इस तथ्य को सूत्रकार के अतिरिक्त भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने भी स्वीकार किया है। तब भेद प्रतिपादक सूत्रों में केवल व्यवहार दशा का निर्देश है, यह कथन सर्वथा निराधार हो जाता है। इस विषय में वेदान्त के निम्नलिखित सूत्रों को देखा व विचारा जा सकता है।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १ । १ । १६ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १ । १ । १७ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ १ । २ । २२ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १ । १ । २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ १ । १ । २१ ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १ । २ । ११ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ १ । २ । ३ ॥

कर्म कर्तृव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । ४ ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १ । २ । १८ ॥

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैवमधीयते ॥ १ । २ । २० ॥

जगद्द्वयापारवर्जं प्रकरणादसं निहितत्वाच्च ॥ ४ । ४ ॥

## निगमन

उक्त वेदान्त सूत्रों के आधार पर स्वरूप से ही जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। उपक्रम और उपसंहार अर्थात् जगत् का प्रारम्भ और प्रलय भी ब्रह्म में बताकर अद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं। कारण यह है, कि वेदादि सत्यशास्त्रों में ब्रह्म को उत्पादविनाश रहित प्रतिपादन किया है। यदि ब्रह्म ही जगद्रूप में प्रकट होता है, उसी में यह जगत् लीन होता है, यह माना जाय तो यह मानना वेद विरुद्ध होगा। ब्रह्म निर्विकार, अपरिणामी, शुद्ध, सनातन, निर्भ्रान्तत्व आदि विशेषण युक्त माना गया है, उसमें विकार, उत्पत्ति और अज्ञान आदि सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। प्रलयकाल में ब्रह्म, जीव और जगत् का मूल कारण उपादान प्रकृति बराबर बने रहते हैं। फलतः उपक्रम-उपसंहार के आधार पर अद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं। शांकरमत की इस प्रकार की सब कल्पना असत्य एवं निराधार हैं।

## प्रकाशचन्द्र कविरत्न

हो वर वेद से वञ्चित आर्य,  
लगाते गप्पाष्टक गर्त में गोता।  
सत्य, असत्य का पारखी लाखों में,  
होता कोई पटु पाठक, श्रोता।  
आस पराई सदा करते, जिमि,  
पिञ्जर-बद्ध पराश्रित तोता।  
चेतना आती न भारत में, यदि,  
ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश न होता।

कोटि-कोटि जनगण-जीवन-सुधारक हैं,  
परम प्रचारक सुमति, सत्य-कान्ति का।  
विविध मतों का समीक्षक भी जिससे कि,  
सत्य का प्रसारण, निवारण हो भ्रान्ति का।  
वैदिक-सिद्धान्त-प्रतिपादित, पुनीत प्रिय,  
पाठ ये प्रत्येक को पढ़ाता ऐक्य शान्ति का।  
भारत का भाग्योदय करने महर्षि का ये,  
सत्यार्थ-प्रकाश बना अग्रदूत क्रान्ति का।

## एक आहुति अपने आचार्य के लिए.....

ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की तन, मन, धन से सेवा करने वाले, उसे अपनी मातृवत् समझने वाले और यहाँ तक कि अपना जीवन समर्पित कर देने वाले डॉ. धर्मवीर आज अपना समस्त भार आर्य जनता अर्थात् अपने उत्तराधिकारियों पर छोड़ गये हैं। उन्होंने ऋषि के स्वप्नों को अपना कर्तव्य समझकर सभा को गगनचुंबी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। अनेक नये प्रकल्प चलाये यथा-वैदिक गुरुकुल, गोशाला, आश्रम, अतिथियों के ठहरने व खान-पान की निःशुल्क व्यवस्था आदि। उन्होंने जो-जो कार्य छोड़े उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी न्यूनता न आने दी। परोपकारिणी सभा ऐसे पुत्र को प्राप्त कर गौरव का अनुभव करती है और बिछुड़कर शोकग्रस्त होने का भी। उनके द्वारा शुरु किये कार्य कभी शिथिल न पड़ें, इस कारण सभा ने डॉ. धर्मवीर जी की स्मृति में एक करोड़ रु. की स्थिर निधि बनाने का संकल्प लिया है, जिससे कि धन धर्म के काम आ सके। इसमें सन्देह नहीं कि ये समस्त कार्य आर्य जनता के सहयोग से ही प्रारम्भ हो सके हैं और सहयोग से ही चल भी रहे हैं। इसलिये इसमें भी सन्देह नहीं कि सभा के इस संकल्प को आर्य जनता शीघ्र पूर्णता की ओर पहुँचा देगी और शायद उससे भी कहीं बढ़कर। यज्ञ तो हवि माँगता है। बिना हवि के यज्ञ की कल्पना भी क्या? बस देरी तो सूचित होने की है। हवि बनना तो आर्यों के खून में है, तन से, मन से अथवा धन से।

आप अपना दान चैक, ड्राफ्ट या सभा के खाते में सीधे भी भेज सकते हैं। कृपया, राशि भेजने के पश्चात् सभा में दूरभाष या पत्र द्वारा अवश्य सूचित कर दें।

कन्हैयालाल आर्य - मन्त्री

## जीवित माता-पिता ही सच्चे पितर हैं

डॉ. जगदेव विद्यालङ्कार

भाद्रपद की पूर्णमासी से आश्विन की अमावस्या तक सोलह दिन के पक्ष (पखवाड़े) को हिन्दू समाज में श्राद्ध-पक्ष के रूप में जाना और माना जाता है। हरयाणवी भाषा में इसे कनागत भी कहते हैं। शताब्दियों से यह मान्यता प्रचलित है कि हमारे जिन पूर्वजों का देहान्त हो चुका है उनकी आत्मा इस पखवाड़े में हमारे निकट आती है और इर्द-गिर्द घूमती रहती है। उनकी तृप्ति के लिए हमें हलवा, खीर आदि स्वादिष्ट और पौष्टिक खाद्य पदार्थ कुत्ते और कव्वे आदि को खिला देने चाहिये तथा जन्मना ब्राह्मणों को भी आमन्त्रित करके भोजन से तृप्त कर देना चाहिये, इससे हमारे पूर्वज स्वतः तृप्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को पितरों के प्रति श्राद्ध और तर्पण कहा जाता है।

इस विषय पर हमें बुद्धिपूर्वक विचार करना चाहिये। आत्मा और शरीर के संयोग को जन्म और वियोग को मृत्यु कहते हैं। उपनिषद् आदि शास्त्र कहते हैं कि जैसे एक कीड़ा अपने पिछले पैरों को उठाते ही अगले पैरों को आगे रख देता है, उसी प्रकार एक क्षण में एक जीवात्मा मृत शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। इसी बात को गीता में इस प्रकार से कहा है-

“वासंसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥”

अर्थात् जैसे एक मनुष्य पुराने फटे कपड़ों को उतार कर नये धारण कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है।

अब प्रश्न उठता है कि हमारे मृत पूर्वज (पितर) जो अगला शरीर धारण कर चुके हैं, वे श्राद्ध-पक्ष में हमारे निकट कैसे आ सकते हैं? और फिर सृष्टि के नियम के अनुसार उन दिवंगत आत्माओं को अपने पूर्वजन्म की एवं तत्सम्बन्धी परिजनों की कोई स्मृति नहीं रहती, इस दृष्टि से भी वे हमारे पास किसी भी प्रकार से लौटकर नहीं आ सकते। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रचलित मान्यता वैज्ञानिक, शास्त्रसम्मत, बुद्धिसंगत एवं तर्कसंगत नहीं है। यह कुछ अज्ञानी एवं स्वार्थी लोगों द्वारा चलाई हुई भोले-भाले समाज को गुमराह करने के लिए एक रूढ़िमात्र है। अथवा यह कहिये कि यह सच्चा श्राद्ध एवं तर्पण नहीं, अपितु एक अन्धश्रद्धा

और अन्धविश्वास है।

विचारणीय बात यह भी है कि यदि हमारे द्वारा प्रदत्त भोजन से ही उनकी तृप्ति होती है तो वर्ष के केवल पन्द्रह दिन ही क्यों, पूरा वर्ष क्यों नहीं? क्या वे साढ़े ग्यारह महीने तक भूखे ही रहते हैं?

अतः इस प्रचलित मान्यता में थोड़ा सा संशोधन कर लेना जरूरी है। मरे हुये पूर्वजों को पितर नहीं कहा जाता, अपितु जो हमारे जीवित माता-पिता और दादा-दादी आदि हैं, उन्हीं को पितर कहना और मानना चाहिये और केवल पन्द्रह दिन नहीं, अपितु वर्ष भर आरोग्यवर्धक, सात्त्विक भोजन आदि से श्रद्धा और सत्कारपूर्वक उनकी तृप्ति करनी चाहिये, जिससे वे निरन्तर स्वस्थ और प्रसन्न रहें तथा हमें आशीर्वाद देते रहें। इसी को सच्चा श्राद्ध और तर्पण कहा जाता है। शास्त्रानुसार इसको पितृयज्ञ भी कहा जाता है, जिसकी परिभाषा है- “येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितृश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्पणम् तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्” अर्थात् तर्पण उसे कहते हैं, जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो श्राद्ध कहाता है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं।

आज हमारे समाज में वास्तविक श्राद्ध, तर्पण अर्थात् पितृयज्ञ का अभाव होता जा रहा है। इसीलिये स्थान-स्थान पर वृद्धाश्रम खुलते जा रहे हैं। आज स्थिति यह है कि “जीवित पितर से दंगमदंगा, मरने पर पहुँचावें गंगा।” हम अपने माता-पिता आदि बड़ों से अच्छा व्यवहार नहीं करते, जिसके कारण वे दुःखी रहते हैं। हमें उनकी सेवा और शुश्रूषा दोनों ही करनी चाहिए। शुश्रूषा का अर्थ है सुनने की इच्छा। अर्थात् हमारे बड़े यदि कुछ कहना चाहें तो उनको धैर्यपूर्वक हमें अवश्य सुनना चाहिये ताकि वे स्वयं को घर में फालतू और उपेक्षित न समझने लगे। केवल भोजन-छादन और दवा आदि आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति कर देना मात्र ही पितृयज्ञ नहीं कहलाता, अपितु हमें सावधानी से ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जो उन्हें अच्छा लगे और वे प्रसन्न रहें। यही वास्तविक श्राद्ध है और यही तर्पण है। इसी को पितृयज्ञ कहते हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जीवित माता-पिता ही सच्चे पितर हैं।

रोहतक, हरियाणा।



## सनातनियों के उत्तरित प्रश्नों पर विहङ्गम दृष्टि

डॉ. रामप्रकाश वर्णी

( गताङ्क से आगे )

प्र.सं. ११. महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपने अमरग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के चतुर्थ समुल्लास में 'अथ पितृतर्पणम्' इस शीर्षक से लिखा है- "ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। [सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम्।] यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि। [प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि।] मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि। [प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि।] स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि। सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि। सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि।। इति पितृतर्पणम्।" महर्षि के इस पितृतर्पण विधान की सम्पुष्टि 'पराशरस्मृति' के अधोलिखित श्लोकों से भी होती है-

"सोमसदोऽग्निष्वात्ताश्च तथा बर्हिषदोऽपि च।

सोमपाश्च तथा विद्वंस्तथैव च हविर्भुजः।।

आज्यपाश्च तथा वत्स तथा ह्यन्ये सुकालिनः।

एते चान्ये च पितरः पूज्याः सर्वे द्विजातिभिः।।"

परा. स्मृति ७/१६-६८।।

यहाँ पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सोमसदः' का तात्पर्य "ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः" अर्थात् जो 'परमात्मा' और 'पदार्थ-विद्या' में निपुण हों वे 'सोमसदः' पितर होते हैं। 'अग्निष्वात्ताः' नामक पितर वे होते हैं जो 'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता तेऽग्निष्वात्ताः' अर्थात् जो अग्नि=विद्युत् आदि पदार्थों के जाननेवाले होते हैं, उन्हें 'अग्निष्वात्ताः -पितर' कहा जाता है। इसी क्रम में महर्षि ने 'बर्हिषदः' का अर्थ करते हुए लिखा है- "ये बर्हिषि= उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः" अर्थात् जो उत्तम विद्या-वृद्धि युक्त व्यवहार में स्थिति को प्राप्त होते हैं वे 'बर्हिषदः' पितर कहे जाते हैं। इसी प्रकार 'सोमपाः' पितरों का वर्णन करते हुए महर्षि ने लिखा है कि- "ये सोममैश्वर्यमोषधिरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः" अर्थात् जो पितर ऐश्वर्य के रक्षक और महौषधि-रस का पान करने से रोग-रहित और

अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक, औषधों को देके रोगनाशक हों, वे 'सोमपाः' कहे जाते हैं। किञ्च जो पितर "ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः" अर्थात् जो 'मादक' और 'हिन्साकारक' द्रव्यों को छोड़कर भोजन करने वाले होते हैं, वे 'हविर्भुजः' कहलाते हैं।

महर्षि के अनुसार 'आज्यपाः' पितर वे होते हैं जो कि "ये आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं पान्ति रक्षन्ति वा पिबन्ति आज्यपाः" अर्थात् जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत, दुग्ध आदि खाने और पीने हारे हों, वे 'आज्यपाः' पितर कहलाते हैं। 'सुकालिनः' नामक पितरों का व्याख्यान करते हुए महर्षि प्रवर ने लिखा है- "शोभनः कालो विद्यते येषां ते सुकालिनः" अर्थात् जिनका अच्छा 'धर्म' करने का सुखरूप-समय होता है, वे 'सुकालिनः-पितरः' संज्ञा से अभिहित होते हैं। अथ च जो पितर "ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमाः, न्यायाधीशाः।" अर्थात् जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करते हैं वे न्यायकारी न्यायाधीश आदि 'यम-पितरः' कहाते हैं। इसी क्रम में ऋषिवर ने "यः पाति स पिता" अर्थात् जो अपनी सन्तानों का अन्नदान और सत्कार से रक्षक वा जनक हो वह 'पिता' तथा पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः और "या मानयति सा माता" अर्थात् जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह 'माता' होती है। किञ्च जो "या पितुर्माता सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही" अर्थात् जो पिता की माता होती है, वह "पितामही=दादी" और 'पितामह' की माता 'प्रपितामही' अर्थात् परदादी कही जाती है। अपनी स्त्री तथा भगिनी सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र-पुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार से जो तृप्त करना [है] अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करना ही उनका श्राद्ध-तर्पण कहलाता है। यह उपर्युक्त जीवित पितरों का ही विधेय है, मृतकों का नहीं। यह महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की 'पितृतर्पण' के सम्बन्ध में स्पष्ट अवधारणा है। इस पर आक्षेप करते हुए शास्त्रपदलाञ्छन कालूराम ने लिखा है- "हम आर्यसमाजियों से पूछते हैं कि यह तर्पण क्या जीवित-पितरों

का है? यदि सच ही जीवितों का है, तो आर्यसमाजी बतलावें कि कौन-कौन आर्यसमाजी 'सोमसद' हैं, जिनका यह तर्पण है और 'अग्निष्वात्त-पितर' कौन हैं? किस-किस आर्यसमाजी के बाप-दादा 'बर्हिषद' हैं? कौन-कौन आर्यसमाजी अपने पितरों को 'हविर्भुक्' मानते हैं? किस-किस आर्यसमाजी ने अपने पितरों का नाम 'आज्यपाः' रखा है? जब इन शब्दों के अर्थ किये जायेंगे और इन पितरों का निवासस्थान पूछा जायेगा एवं जब यह सवाल होगा कि वे पितर कौन हैं जो बिल्कुल अन्न नहीं खाते केवल 'आज्यपाः' ही हैं- घी पीकर रहते हैं? इतना पूछते ही आर्यसमाजियों को मूक हो जाना पड़ता है [पढ़ेगा]।”

**उत्तर-** इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'पौराणिक-पोल प्रकाश' नामक ग्रन्थ के यशस्वी प्रणेता पण्डित मनसाराम वैदिक तोप ने अधोलिखित फारसी भाषा की सूक्ति को उद्धृत करते हुए बहुत बढ़िया चुटकी ली है-“चे बाक अस्त दुजेद कि बक्रफ चराग दारद” अर्थात् “कैसा चालाक चोर है कि हाथ में दीपक रखता है।” तदनुसार यह कहावत कालूराम पर सोलह आना सत्य साबित होती है।

यहाँ सत्यार्थप्रकाश का एक साधारण पाठक भी इस बात को भली भाँति समझ सकता है कि महर्षिप्रवर ने 'पितृ तर्पण' शीर्षक से उपर्युक्त पाठ उद्धृत करके उसके सभी शब्दों का अक्षरशः अर्थ हिन्दी भाषा में स्पष्ट रूप से लिख दिया है। फिर भी कालूराम की समझ में नहीं आ पाया। इसे हम यही मान सकते हैं- “नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।” महर्षि ने 'सोमसद' का जो अर्थ किया है, वह सर्वथा ही शुद्ध और निर्दुष्ट है। यदि हिम्मत हो तो आप उसमें दोष दिखलाएँ और यह भी बतलावें कि आपके मतानुसार मृत-पितरों में से किन पितरों का नाम 'सोमसदः' है। वैसे आपके यहाँ तो 'सोमसदः' मनुष्यों के 'पितर' ही नहीं है। जैसा कि मनुस्मृति ३/१९५ के इस प्रमाण से स्पष्ट है- “विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः” फिर 'पदार्थ विद्याविद्' यूरोपियों के श्राद्धतर्पण की सलाह हमें आप कैसे दे सकते हैं? यहाँ पर सनातनी कालूराम महर्षि के 'अग्निष्वात्ताः' पद के अर्थ से जो हलवाई, लुहार, इंजन के ड्राइवर और भड़भूजे आदि का बलात् अहेतुक परिग्रह करके उपहास कर रहे हैं, वह उनका लेख स्वतः ही उपहासास्पद है, यतो हि यदि महर्षिकृत उपर्युक्त अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं तो सनातनियों की परम्परा में 'अग्निष्वात्ताः पितरः' कौन हैं, यह निश्चय कर पाना ही असम्भव है। जैसा कि इनसे अभिसम्बद्ध

अधोलिखित मतों से विस्पष्ट है- “अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोक विश्रुताः” (मनु. ३/१९५) यच्छरीरात्तु धर्माशो यत्पपात द्वि जोत्तम। अग्निष्वाताः पितृगणः जाताः पितृगणास्ततः॥ (शिव. रुद्र. सती. अ. ३/४८) “सहस्राणां चतुः षष्टिरग्निष्वात्ताः प्रकीर्त्तिताः” (वर्ही-५०)। यहाँ यह सुस्पष्ट है 'मरीचि' के पुत्र 'अग्निष्वात्ताः' है, यह मनु का मत है और शिवपुराण इन्हें 'ब्रह्मा' के स्वेद से उत्पन्न बताता है और कालूराम इन्हें 'अग्निदग्ध' मानता है, इनमें से कौन सा मत मान्य है? यह स्पष्ट नहीं है। अपरंच जब ये देवों के पितरः हैं तो ये मनुष्यों के पूज्य क्यों होने चाहियें? यह प्रश्न आप से उत्तर माँग रहा है। यही नहीं हलवाई, लुहार और भड़भूजे आदि के 'पितर' होने में आपको आपत्ति क्यों है? क्या ये अपनी विद्या से हमारी रक्षा, सेवा नहीं कर रहे हैं? क्या ये अपनी पुत्री पर आशक्त हुए चतुर्मुख ब्रह्मा से श्रेष्ठ नहीं है? हाँ हैं और अवश्य हैं। इसलिए महर्षिकृत उपर्युक्त अर्थ पर कोई दोष समारोपित नहीं होता है। एवमेव महर्षिकृत 'बर्हिषदः' के अर्थ से कालूराम ने 'पॉलिसीबाजों' का ग्रहण करके जो उन्हें आर्यसमाजियों का 'पितर' बताने की धृष्टता की है, वह भी उनकी जलताडनवत् व्यर्थ चेष्टा है। स्वामी जी महाराज के द्वारा किये गये इस पद के “ये बर्हिषि उत्तम व्यवहारे सदिन्ति ते बर्हिषदः” इस अर्थ में कोई दोष नहीं है। हाँ, सनातनी वृन्द अवश्य ही न तो इनकी उपर्युक्त पितरों से भिन्न कोई विशेषता ही बतला सकते हैं और न ही इनके सुनिश्चित स्वरूप का निर्धारण करा सकते हैं। इनके सम्बन्ध में 'मनु' का लेख है- 'दैत्य-दानव-यक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।

**सुपर्णाकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः॥** ३/१९६

अर्थात् 'दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सुपर्ण, किन्नर' इन सभी के पितर 'अत्रि' के पुत्र 'बर्हिषदः' हैं। शिवपुराण में इनके विरुद्ध लेख प्राप्त होता है। तदनुसार ये स्वपुत्री पर कामाशक्त हुए ब्रह्मा जी को जब महादेव ने डाँटा-फटकारा तब भय से ब्रह्मा को जो पसीना आया उससे इन्हें उत्पन्न बतलाया गया है। तद्यथा- “षडशीतिसहस्राणि तथा बर्हिषदो मुने” (शिवपुराण वर्ही अ. ३/५०) यही स्थिति महर्षिकृत 'सोमपाः पितरः' के अर्थ की भी है। इसमें भी कोई दोष नहीं है। फिर भी 'व्रणमिच्छन्ति मक्षिकाः' के अनुसार कालूजी को आपत्ति है। वे लिखते हैं कि इस दयानन्दीय अर्थ के अनुसार भारतवर्ष में जितने भी डॉक्टर हैं, वे सभी आर्यसमाजियों के पितर हैं। यह भी इनका व्यर्थ प्रलाप ही है। इसे हम अगले अंक में स्पष्ट करेंगे। **एटा, उ.प्र.।**

## अंग्रेजों को गये हुए भी

डॉ. रामवीर

अंग्रेजों को गये हुए भी  
बीते बरस बहत्तर,  
लेकिन क्या हम हैं स्वतन्त्र  
मिला न इसका उत्तर।  
चले गये अंग्रेज परन्तु  
गई नहीं अंग्रेजी,  
वह भी चली जाती पर शायद  
हमने ही न भेजी।  
घोर परिश्रम कर के हमने  
सीखी थी जो भाषा,  
जिसके लिए पानी की भाँति  
हमने बहाया पैसा।  
लागत जिसमें लगी हमारी  
वह वस्तु है हमारी,

यही सोचकर अंग्रेजी भी  
लगने लगी है प्यारी।  
भाषा सिर्फ नहीं होती है  
सम्प्रेषण का साधन,  
वह मूल्यों व धारणाओं का  
भी होती है वाहन।  
अपनी भाषाओं की प्रगति  
में अंग्रेजी बाधक,  
मौलिक लेखन ठप्प हुआ है  
बढ़ रहे हैं अनुवादक।  
जैसे पात्र प्रभावित करता  
पात्रस्थित पदार्थ को,  
तद्वत् भाषा बदल सकती है  
विचार और अर्थ को।

फरीदाबाद, हरियाणा

## वैदिक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित नया साहित्य

### १. महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थ

पृष्ठ : २१६

मूल्य : १५०

यह पुस्तक महर्षि के सभी शास्त्रार्थों का संग्रह है। यद्यपि सभा यह संग्रह दयानन्द ग्रन्थमाला में भी प्रकाशित कर चुकी है, पुनरपि पाठकों की सुविधा के लिए इसे पृथक पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया गया है।

### २. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा

पृष्ठ : ८०

मूल्य : ३०

महर्षि दयानन्द ने अलग-अलग समय व अवसरों पर अपने जीवन सम्बन्धी विवरण का व्याख्यान किया है। जिनमें थियोसोफिकल सोसाइटी को लिखा गया विवरण, भिड़े के बाड़े में दिया गया व्याख्यान एवं हस्तलिखित विवरण आदि हैं। इन सभी विवरणों को ऋषि के हस्तलिखित मूल दस्तावेजों सहित सभा ने एकत्र संकलित किया है।

### ३. काल की कसौटी पर

पृष्ठ : ३०४

मूल्य : २००

यह पुस्तक डॉ. धर्मवीर जी द्वारा लिखित सम्पादकीय लेखों का संकलन है। विषय की दृष्टि से इस पुस्तक में उन सम्पादकीयों का संकलन किया गया है, जिनमें धर्मवीर जी ने आर्यसमाज के संगठन को मजबूत करने एवं ऋषि के स्वप्नों के साथ-साथ उन्हें पूरा करने का मन्त्र दिया है।

### ४. कहाँ गए वो लोग

पृष्ठ : २८८

मूल्य : १५०

आर्यसमाज या आर्यसमाज के सांगठनिक ढांचे से बहार का कोई भी ऐसा व्यक्ति जो समाज के लिए प्रेरक हो सकता है, उन सबके जीवन और ग्रहणीय गुणों पर धर्मवीर जी ने खुलकर लिखा है। उन सब लेखों को इस पुस्तक के रूप में संकलित किया गया है।

### ५. एक स्वनिर्मित जीवन - मास्टर आत्माराम अमृतसरी

पृष्ठ : १७४

मूल्य : १००

आर्यसमाज के आरम्भिक नेताओं की सूची में मास्टर आत्माराम अमृतसरी का नाम प्रमुख रूप से आता है। प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु द्वारा लिखी अमृतसरी जी की यह जीवनी पाठकों को आर्यसमाज के स्वर्णयुग से परिचित कराएगी।

## पाठकों की प्रतिक्रिया

सम्पादक जी, परोपकारी पाक्षिक, अजमेर।

परोपकारी अंक जुलाई (द्वितीय) २०२० में सम्पादकीय “रूढ़िवादी पौराणिकों द्वारा भारतीय समाज से विश्वासघात” की दूसरी कड़ी पढ़ी। बेबाक टिप्पणियों से प्रभावित हुआ।

निम्नलिखित बिन्दु भी भारतीय (हिन्दू) समाज से विश्वासघात हैं, जिन पर रूढ़िवादी पौराणिक मठाधीशों द्वारा कोई भी विरोध एवं प्रतिक्रिया नहीं है-

(१) टी.वी. पर सोनी चैनल के माध्यम से शाम ७.०० बजे तथा डी.डी. दूरदर्शन चैनल पर रात १०.०० बजे चाँद मियाँ उर्फ साई बाबा की जीवनगाथा प्रसारित हो रही है, जिसमें उनको महान् सन्त तथा चमत्कारी बताया जा रहा है। आश्चर्य तो यह है कि दिखाये जाने वाले सभी प्रशंसक हिन्दू अथवा सिख हैं, मुस्लिम कोई नहीं।

(२) कुछ समय पूर्व पाकिस्तान में हिन्दू मन्दिर की नींव रखी गई, किन्तु कट्टरपंथियों ने नींव तक उखाड़ दी, जिस पर भारत के रूढ़िवादी पौराणिक मठाधीश मौन रहे तथा अयोध्या में राममन्दिर निर्माण में जोर-शोर से व्यस्त रहे हैं।

ये मेरे व्यक्तिगत विचार हैं।

ईश्वरदयाल माथुर, जयपुर।

आज्ञा ध्यायी भाष्य (तीनों भाग) अष्टाध्यायी भाष्य (तीनों भाग) महर्षि दयानन्द सरस्वती का पत्र-व्यवहार (दोनों भाग) कुल्लियाते आर्यमुसाफिर (दोनों भाग) डॉ. धर्मवीर का सम्पादकीय संकलन (तीन भाग) पण्डित आत्माराम अमृतसरी महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थ व्यवहारभानु: महर्षि दयानन्द की आत्मकथा वेद पथ के पथिक महर्षि दयानन्द के हस्तलिखित-पत्र स्तुतामया वरदा वेदमाता

पुस्तक का नाम	वास्तविक मूल्य रुपये	छूट के साथ मूल्य रुपये
अष्टाध्यायी भाष्य (तीनों भाग)	५००	३५०
महर्षि दयानन्द सरस्वती का पत्र-व्यवहार (दोनों भाग)	८००	५००
कुल्लियाते आर्यमुसाफिर (दोनों भाग)	९५०	६००
डॉ. धर्मवीर का सम्पादकीय संकलन (तीन भाग)	५००	२५०
पण्डित आत्माराम अमृतसरी	१००	७०
महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थ	१५०	१००
व्यवहारभानु:	२५	२०
महर्षि दयानन्द की आत्मकथा	३०	२०
वेद पथ के पथिक	२००	१००
महर्षि दयानन्द के हस्तलिखित-पत्र	२००	१००
स्तुतामया वरदा वेदमाता	१००	७०

पुस्तकें हेतु सम्पर्क करें:-

वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से क्रय की जाने वाली पुस्तकों की राशि ऑनलाइन जमा कराने हेतु

खाताधारक का नाम - वैदिक पुस्तकालय, अजमेर। दूरभाष - 0145-2460120

बैंक का नाम - पंजाब नेशनल बैंक, कचहरी रोड, अजमेर।

बैंक बचत खाता (Savings) संख्या - 0008000100067176

IFSC - PUNB0000800

# संस्था की ओर से....

क्या आप प्रतिदिन अतिथि यज्ञ नहीं कर पाते?

तो आइये, अतिथि यज्ञ के होता बनिये

वैदिक नित्यकर्मों में अतिथि यज्ञ प्रतिदिन करना अनिवार्य है, किन्तु आपको प्रतिदिन अतिथि मिलना संभव नहीं, फिर अतिथि यज्ञ कैसे किया जाय? इसका उपाय है, कुछ राशि प्रतिदिन अतिथि यज्ञ के नाम से निकाल ली जाये और उसको एकत्र कर अतिथि सत्कार में गुरुकुल में भोजन आदि के सहयोग में दे दी जाय।

यह अल्प राशि आप दैनिक संचय घट में जमा भी कर सकते हैं, वर्ष में लोग अरबों रुपए आग में पटाखे जलाकर व्यय करते हैं, असावधानी से बिजली जलती छोड़ इसे गंवा देते हैं आदि ऐसी छोटी-छोटी असावधानियों को रोक कर हम उसकी बचत राशि इस पावन कृत्य हेतु सभा को वर्ष में आसानी से दे सकते हैं।

सभा के धार्मिक क्रियाकलापों एवं आवासीय स्थल ऋषि उद्यान में उपर्युक्त पावन क्रियाकलाप लम्बे समय तक अबाध चलते रहें, इसके लिए सभा की योजना है कि प्रतिदिन प्रतिवर्ष ५ हजार एक सौ रु. की राशि प्रदान करने वाले उदार यशस्वी दानदाताओं का नाम अतिथि यज्ञ के स्थायी सदस्यों में अंकित किया जाता है ऐसे सज्जनों के नाम का परोपकारी में प्रकाशित भी किये जाते हैं।

यदि अपने सामर्थ्य के अनुसार राशि को न्यूनाधिक करना चाहें तो आपकी स्वतन्त्रता है अधिक से अधिक लोग परोपकारिणी सभा से जुड़ सकें, आप ऐसा करके ऋषि दयानन्द के कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायक होंगे इसलिए ऐसी राशि निश्चित की है। आप से प्रार्थना है अपना नाम पता और संकल्प लिखकर अवगत करायें और अतिथि यज्ञ के होता बनें। अपनी राशि प्रतिमाह अथवा सुविधानुसार मनीआर्डर/डीडी/चैक द्वारा अथवा स्वयं उपस्थित होकर कार्यालय में जमा करा सकते हैं। आपका दान ८०जी (आयकर की धारा) के अंतर्गत कर मुक्त होगा।

*अनेक 'अतिथि यज्ञ के होता' सदस्यों का आग्रह है, निश्चित तिथि जन्मदिन, विवाह वर्षगांठ या विशेष अवसर पर वे अपनी ओर से संस्था में भोजन कराना चाहते हैं। ऐसे महानुभावों से निवेदन है कि वे अतिथि यज्ञ के होता के रूप में एक दिन के भोजन व्यय की राशि लगभग पाँच हजार एक सौ रुपये भेजते हुए इच्छित दिन का विवरण सूचित करेंगे तो उन्हें उनके जन्मदिवस आदि पर परोपकारिणी सभा की ओर से दूरभाष द्वारा आशीर्वाद प्रदान किया जायेगा। यदि उस शुभ अवसर पर वे स्वयं उपस्थित होकर यजमान बनें तो यह सर्वोत्तम होगा।*

## अतिथि-यज्ञ के होताओं से अनुरोध

अतिथि-यज्ञ के होताओं से उनकी वैवाहिक वर्षगांठ अथवा जन्मदिन व विभिन्न अवसरों पर ५१०० रु. प्रतिवर्ष सभा को प्राप्त होते रहते हैं। जो महानुभाव संकल्प के साथ इस पुनीत कार्य से जुड़े हुए हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अपनी राशि भेजते समय जन्मतिथि/वैवाहिक वर्षगांठ आदि व दूरभाष संख्या सूचित करना न भूलें। साथ ही यह भी अवश्य सूचित करा दें कि पहले से भिजवा रहे हैं अथवा नया शुरू किया है। आप अपनी राशि सभा के बैंक खाते में नकद अथवा चैक द्वारा जमा करा सकते हैं।

## परोपकारिणी सभा की गतिविधियाँ

परोपकारिणी सभा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित उनकी उत्तराधिकारिणी सभा है और केवल नाम से ही नहीं, बल्कि अपने कार्यों से भी वह ऋषि के उत्तराधिकार के दायित्व को पूर्णतया निभा रही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती

ने इस सभा की स्थापना के समय तीन उद्देश्य रखे थे।

१. वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रकाशन २. विद्वान् उपदेशक तैयार करके देश-विदेश में वैदिक धर्म का प्रचार एवं ३. आर्यावर्तीय दीन-दरिद्रों की सेवा।

इन सभी कार्यों को सभा अपने विभिन्न प्रकल्पों के माध्यम से पूरा करने में सर्वसामर्थ्य से लगी हुई है। यद्यपि सभा के पास आर्थिक आय का कोई स्थाई माध्यम नहीं है, पुनरपि ऋषिभक्तों एवं आर्यजनों के सहयोग और विश्वास पर ही सभा ने बड़े-बड़े कार्यों को प्रारम्भ किया और निरन्तर कर भी रही है। आचार्य डॉ. धर्मवीर जी, जो कि वर्तमान में परोपकारिणी सभा के प्रधान एवं मूल स्तम्भ थे, उनका कहना था कि “कार्य यदि अच्छा है तो उसे प्रारम्भ कर देना चाहिये, सहयोग तो स्वयं ही मिल जाता है।” यही शैली अपनाकर आज भी वैदिक विचार के प्रचार का कार्य निरन्तर जारी है। डॉ. धर्मवीर जी के जाने से सभा को बड़ा आघात अवश्य लगा है, परन्तु आर्यों का स्नेह, भरोसा उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को रुकने नहीं देगा-ऐसा सभा को पूर्ण विश्वास है।

परोपकारिणी सभा आज अनेक कार्यों, माध्यमों से इस वेद प्रचार यज्ञ में लगी है, जिसकी सूची यहाँ दी जा रही है-

भव्य ऋषि उद्यान आश्रम, अतिथि यज्ञ, भोजनशाला, गौशाला, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम, गुरुकुल, परोपकारी पत्रिका, प्रकाशन, योग साधना एवं चरित्र निर्माण शिविर, सत्यार्थ प्रकाश व ऋषि जीवन चरित्र का निःशुल्क वितरण, पाण्डुलिपियों का डिजिटलाइजेशन, पुस्तकालय, औषधालय, देश-देशान्तरों में वेद-प्रचार, आयुर्वेदिक औषधालय।

## गुरुकुल के लिये प्रवेश-सूचना

परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा संचालित महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान-अजमेर में वैदिक धर्म एवं आर्यसमाज के उपदेशक तैयार करने हेतु उपदेशक कक्षा में प्रवेश प्रारम्भ हैं।

प्रवेशार्थी की न्यूनतम आयु १४ वर्ष तथा कक्षा आठ या उससे अधिक उत्तीर्ण हो। आर्ष-पद्धति से संस्कृत व्याकरण, दर्शन, उपनिषद्, वक्तृत्व कला तथा महर्षि निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के अध्यापन की व्यवस्था है।

गुरुकुल में अध्यापन, भोजन एवं आवास निःशुल्क है।

प्रवेश के इच्छुक अभ्यर्थी सम्पर्क करें-

आचार्य, आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, पुष्कर रोड, अजमेर।

दूरभाष- ०८८२४१४७०७४, ०१४५-२४६०१६४, ०१४५-२६२१२७०

## परोपकारिणी सभा के प्रकल्पों में सहयोग करने हेतु

खाताधारक का नाम - परोपकारिणी सभा, अजमेर (PAROPKARINI SABHA AJMER)

१. बैंक का नाम- भारतीय स्टेट बैंक, डिग्गी बाजार, अजमेर।

बैंक बचत खाता (Savings) संख्या-10158172715

IFSC-SBIN0007959

२. बैंक का नाम-आई.डी.बी.आई, पावर हाउस के सामने, जयपुर रोड, अजमेर।

बैंक बचत खाता (Savings) संख्या-091104000057530

IFSC-IBKL0000091

email : psabhaa@gmail.com

## दानदाताओं की सूची

अतिथि यज्ञ के होता

( ०१ से १५ अगस्त २०२० तक )

१. आर्यसमाज राजाजीपुरम्, लखनऊ २. मै. स्वस्तिकॉम चेरिटेबिल ट्रस्ट, अमरावती ३. श्रीमती प्रकाश राठी, सोनीपत ४. श्री सोमाराम, जोधपुर ५. श्री राजपाल सिंह, मेरठ ६. श्रीमती प्रतिभा हाण्डा, जबलपुर ७. श्रीमती सीमा गुप्ता, विलासपुर ८. श्री सुधीर गुप्ता, विलासपुर ९. श्री सौमित्र गुप्ता, विलासपुर १०. श्रीमती निर्मला देवी गुप्ता, विलासपुर ११. श्रीमती प्रेमलता गुप्ता, विलासपुर १२. श्री राजीव बत्रा, लखनऊ।

## गोभक्तों से निवेदन

ऋषि-उद्यान में परमार्थ हेतु गोशाला संचालित है। गोशाला की गौवों के दूध का वितरण सभी गुरुकुलवासियों, संन्यासियों एवं आगन्तुक अतिथियों में निःशुल्क किया जाता है। आप सभी गो-भक्तों एवं उदारमना दानदाताओं से सभा का निवेदन है कि गौवों को उत्तम चारा मिले, इसके लिए जो भी सज्जन चारा दान देना चाहें उनका स्वागत है। यदि आप दूरस्थ प्रदेश के हैं तो कृपया चारे हेतु अनुमानित राशि सभा को ड्राफ्ट/चैक/नगद भेज सकते हैं। यशस्वी दानदाताओं के नाम परोपकारी पत्रिका में प्रकाशित किए जाएँगे। आपका दान गौवों के संवर्धन में सहायक होगा।

ऋषि-उद्यान में संचालित गोशाला के दानदाता

( ०१ से १५ अगस्त २०२० तक )

१. श्री पंकज दीवान, नई दिल्ली २. श्री विपिन आर्य, भरतपुर ३. श्रीमती निधि आर्य, बँगलोर ४. श्री मानकचन्द्र जैन, छोटी खाटु ५. श्री हरसहाय सिंह गंगवार, बरेली ६. कै. चन्द्रप्रकाश त्यागी, रुड़की ७. श्री कमलेश पुरोहित, अजमेर ८. श्री दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव, लखनऊ।

सभा के अन्य प्रकल्पों हेतु दान

१. डॉ. मुकेश आर्य व डॉ. मधु आर्य, बीकानेर २. श्रीमती रतनदेवी सोनी, अजमेर ३. श्री विजय कुमार, किरतपुर, बिजनौर ४. श्री सुधीर वशिष्ठ, नईदिल्ली ५. श्री चेतनप्रकाश, हिसार ६. श्री बलवान सिंह दहिया, गुरुग्राम ७. श्रीमती रेखा आहूजा, गुरुग्राम ८. श्री कमलकिशोर नरेश, गुरुग्राम ९. श्रीमती प्रेमलता, अजमेर १०. श्रीमती कौशल्या देवी, अजमेर ११. वैदिक संस्थान, ओढव, अहमदाबाद १२. श्री चेतनप्रकाश, हिसार १३. मै. डॉलर फाउण्डेशन, कोलकाता १४. श्री रुद्रदत्त, पंचकूला १५. श्री एस.के. तलवार, जालन्धर १६. श्री जगदीश शर्मा, जालन्धर १७. श्री मुनीश गुलाटी, अमेरिका १८. मै. कमलकिशोर केवलराम, जैसलमेर १९. श्रीमती मीनू, सोनीपत २०. महात्मा वेदपाल आर्य, सोनीपत २१. श्री सुधीर माटा, देहरादून २२. श्री चन्द्रसेन हरिसिंघानी, अहमदाबाद २३. श्रीमती सुयशा भास्कर सेन गुप्ता, अमेरिका।

## परोपकारिणी सभा द्वारा आयोजित आगामी कार्यक्रम

०४ से ११ अक्टूबर २०२०	-	योग साधना स्वाध्याय शिविर
०६ अक्टूबर २०२०	-	डॉ. धर्मवीर स्मृति व्याख्यानमाला
२० से २२ नवम्बर २०२०	-	ऋषि मेला ( १३७वाँ बलिदान समारोह )

ऋषि उद्यान में होने वाले कार्यक्रमों के लिए

सम्पर्क सूत्र- ०८८२४१४७०७४, ०१४५-२४६०१६४, ०१४५-२६२१२७०

# ‘सत्यार्थ प्रकाश’ एवं ‘महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र’ प्रचार महायज्ञ में आपकी आहुति

महर्षि दयानन्द सरस्वती का अमर ग्रन्थ ‘सत्यार्थप्रकाश’ आर्यों का ब्रह्मास्त्र है। ऐसा ब्रह्मास्त्र, जिसने अविवेक, पाखण्ड, अन्धविश्वासों का दमन कर समाज में एक नई क्रान्ति ‘वैचारिक क्रान्ति’ को जन्म दिया। अन्धश्रद्धा, अविवेक और पाखण्ड मानव समाज में सहज ही पनपने वाली समस्या है, इसलिये प्रत्येक काल, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक परिस्थिति में इन समस्याओं के उन्मूलन की आवश्यकता है-अतः ‘सत्यार्थ प्रकाश’ की आवश्यकता भी सदैव ही अनिवार्य रहेगी, परन्तु यह विचार जन-जन तक पहुँचे, तो ही लाभकारी होगा। इसी को ध्यान में रखते हुए परोपकारिणी सभा ने ७ वर्ष पूर्व ‘विश्व पुस्तक मेला’ दिल्ली में प्रतिवर्ष ‘सत्यार्थप्रकाश’ के साथ ‘महर्षि का जीवन-चरित्र’ एवं ‘आर्याभिनय’ पुस्तक का निःशुल्क वितरण करने की योजना बनाई, जो निरन्तर चल रही है। इस कार्य के परिणाम भी बहुत सुखद रूप में सामने आये हैं। पुस्तक में कई व्यक्ति आकर कहते हैं कि हमारे पास यह पुस्तक है, हम पिछले वर्ष ले गये थे।

प्रत्येक आर्यमात्र की यह इच्छा होगी कि वह भी इस ग्रन्थ को वितरित कर पुण्य का भागी बने। इसके लिये सभा प्रत्येक आर्य को इस महायज्ञ में सम्मिलित करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ में अपनी आहुति दे तो यज्ञ और अधिक भव्य एवं विस्तृत हो जाता है। ‘सत्यार्थप्रकाश’ ‘महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र’ के निःशुल्क वितरण रूपी यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिये आप अपने सामर्थ्यानुसार सहयोग दे सकते हैं। परोपकारिणी सभा की ओर से ये पुस्तकें बड़े अक्षरों में, बढ़िया कागज पर, सजिल्द छापी जाती हैं, जिससे नये व्यक्ति के लिये भी पुस्तक संग्रहणीय

बन जाती है। एक सैट की छपाई का खर्च लगभग १५० रु. आता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी सात्त्विक भावना से केवल २० पुस्तकें ( इससे अधिक कितनी भी ) ही वितरित करवाना चाहता है, तो सभा उतनी प्रतियों पर दानी व्यक्ति का नाम छपवाकर वितरित करेगी। इसी प्रकार ३०, ५०, १००, १००० आदि।

१५० रु. प्रति के अनुसार आप दान देकर अपनी ओर से, अपने नाम से पुस्तक वितरित करा सकते हैं। आहुतियाँ जितनी अधिक होंगी, यज्ञ का फल भी उतना ही अधिक होगा।

अपने दान के साथ ‘सत्यार्थप्रकाश वितरण’ अवश्य लिख देवें, और साथ ही अपना नाम एवं पता भी। यह दान आप परोपकारिणी सभा के खाते में ऑनलाइन, बैंक द्वारा या फिर परोपकारिणी सभा के पते पर मनिऑर्डर भी कर सकते हैं। यह यज्ञ आपका है, प्रत्येक आर्य का है। अतः प्रत्येक आर्य इसमें अपनी आहुति अवश्य दे।

न्यूनतम	२० प्रतियाँ	३०००/- रु.
	३० प्रतियाँ	४५००/- रु.
	५० प्रतियाँ	७५००/- रु.
	१०० प्रतियाँ	१५०००/- रु.
	५०० प्रतियाँ	७५०००/- रु.
	१००० प्रतियाँ	१,५०,०००/- रु.

इस प्रकार जितनी अधिक प्रतियाँ बाँटना चाहें, उतनी और दूरभाष संख्या के साथ भेज देवें। दान अक्टूबर माह के अन्त तक भिजवा देवें, ताकि प्रतियों की संख्या निर्धारित करके उन पर दानदाताओं का नाम अंकित किया जा सके। धन्यवाद। **मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर**

## उन्नति का कारण

जो मनुष्य पक्षपाती होता है। वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता।

सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है। सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। **महर्षि दयानन्द सरस्वती**